परिषद्-पत्रिका

[३९]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-४

प्रस्तुत अंक में

परिषद्-पत्रिका

[साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ।।
—भारतेन्दु

वर्ष १० अङ्क ३ } आश्विन, विक्रमाब्द २०२७; शकाब्द १८९२; अक्टूबर, १९७० ई० { वार्षिक ८·०० एक प्रति २·००

मेधां धाता ददातु मे

मेधां मे इन्द्रो दधातु मेधां देवी सरस्वती ।
मेधां मे अश्विनावुभावाधत्तां पुष्करस्रजो स्वाहा ।।
अप्सरासु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मनः ।
दैवी मेधा मनुष्यजा सा मां मेधा सुरभिर्जुषतां स्वाहा ।।
—वैखानसगृह्यसूत्र, ६०५-६०६

मामेवानुसंरभस्व मयि चित्तानि सन्तु ते ।
मयि सामीच्यमस्तु ते मह्यं वाचं नियच्छतात् ।।
—वैखानसगृह्यसूत्र, ५५०

भावार्थ

इन्द्र मुझे बुद्धि प्रदान करे, देवी सरस्वती बुद्धि प्रदान करे । सुन्दर मालाओंवाले दोनों अश्विन् मुझे बुद्धि प्रदान करें । जो बुद्धि अप्सराओं में है, और जो गन गन्धर्वों में है, जो मनुष्यों में दिव्य बुद्धि है, वह सुरभित बुद्धि मेरे पास आये ।

मेरे प्रति ही आसक्त रहो, तुम्हारे विचार मुझमें केन्द्रित हों । मेरे प्रति तुम्हारा सम्मान हो, मेरे लिए तुम अपनी वाणी नियन्त्रित करो ।

*

टिप्पणियाँ

शोध : दिशा और दृष्टि

शोध का उद्देश्य उपलब्ध ज्ञान के क्षितिज को व्यापक और विस्तृत बनाना है तथा अर्जित ज्ञान का निरन्तर शोधन करना है, ताकि वह निर्दुष्ट और अद्यतन रह सके। इसी कारण शोध या अनुसंधान 'तन्क़ीद' नहीं, 'तहक़ीक़' है – विशिष्ट प्रकार की सूक्ष्म खोज, जिसमें गहराई के साथ ही नैरन्तर्य हो। अतः, अध्येतव्य या अनुसन्धानाधीन विषय में केवल चंचुप्रवेश से शोधकर्त्ता का काम नहीं चल सकता।

विभिन्न विश्वविद्यालयों की शोध-सम्बन्धी नियमावली में प्रायः इस अनिवार्यता का उल्लेख है कि शोध-प्रबन्ध में किसी नये तथ्य का उद्घाटन (डिस्कवरी ऑव न्यू फैक्ट) रहना चाहिए अथवा ज्ञात तथ्य या स्वीकृत सिद्धान्तों की कोई नई व्याख्या होनी चाहिए। अर्थात्, शोध-प्रबन्ध में किसी-न-किसी रूप में मौलिकता का समावेश अनिवार्यतः रहना चाहिए। शोध-सम्बन्धी विश्वविद्यालयीय नियमावली में दूसरी अनिवार्यता यह मिलती है कि शोधकार्य को सदैव निष्कर्षपूर्ण होना चाहिए। वह शोधकार्य कोई महत्त्व नहीं रखता, जिसमें केवल विश्लेषण, व्याख्यात्मक प्रसार या तथ्य-संकलन हो। अतः, किसी भी शोधकार्य या शोध-प्रबंध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश उसका उपसंहार अथवा शोध-निष्कर्ष हुआ करता है।

यह सच है कि कुछ विषयों की प्रकृति ही शिथिल होती है। ऐसे विषय शोध-कार्य को विवरणात्मक बना देते हैं और शोधकर्त्ता से बिना किसी ऊँचे वैदुष्य या मनीषा की अपेक्षा किये अनुसन्धान-कर्म को 'प्लॉडर्स वर्क' की तरह सिर्फ श्रम-सीमित कर देते हैं। तिथि-निर्धारण, किसी कवि के जन्मस्थान आदि का अन्वेषण, विधा-विशेष से सम्बद्ध मोटी पुस्तक-सूचियों का प्रणयन इत्यादि शोध-कार्य के ऐसे स्थलू क्षेत्र हैं, जो केवल 'श्रमसाध्य' हैं और शोधकर्त्ता से किसी तत्त्वाभिनिवेशी अध्ययन, गहन चिन्तन या सूक्ष्म मनीषा की कोई अपेक्षा शायद ही रखते हैं। दिमाग से कोतह, किन्तु, धीर-परिश्रमी लोग ऐसे शोध-विषयों की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अनुसन्धान का आशय स्थूल तथ्यों या तिथियों का आकलन भर नहीं, बल्कि किसी निश्चित क्षेत्र के उपलब्ध ज्ञान की अभिवृद्धि और संशुद्धि है। अतः, आवश्यकता इस बात की है कि स्थूल विषयों से सम्बद्ध शोध-प्रबन्धों में भी तथ्य-संकलन के साथ ही आलोचनात्मक निरीक्षण-परीक्षण और तर्काश्रित निर्णय का समावेश हो। दूसरी बात यह कि शोधकर्त्ता की भाषा-शैली और तर्काश्रित न्यायसंगत प्रतिपादन को काफी ऊँचे स्तर का होना चाहिए। इन

दिनों अधिकांश शोध-प्रबन्धों की भाषा-शैली बहुत ही दुर्बल और कभी-कभी एकदम शिथिल होती है, जिसमें सधी हुई साहित्यिक प्रस्तुति (जिसे 'वाग्विलास' समझने की भूल न की जाय) की तनिक भी झलक नहीं मिलती। इसलिए, कहनेवाले अक्सर कहते हैं कि आजकल के अधिकांश शोध-प्रबन्धों में 'सर्जनात्मकता' की नितान्त कमी रहती है। सर्जनात्मकता के समावेश का यह आशय नहीं कि शोध-प्रबन्धों में छलकता हुआ कवित्व रहे। इससे मात्र इतना ही आशय है कि शोध-प्रबन्ध के स्थापत्य और शोध-कार्य की प्रणाली का निर्वाह करते हुए भी शोधकर्त्ता को तथ्यों के विश्लेषण या अपनी मान्यताओं के प्रतिपादन में कहीं-न-कहीं अपनी तन्मय अन्तःसत्ता या प्रातिभ दीप्ति की झलक देनी चाहिए। केवल शुष्क विश्वविद्यालयीय पाण्डित्य या ऐसे पाण्डित्य की कामना से उत्कृष्ट शोध-प्रबन्ध का लेखन सम्भव नहीं है। फलस्वरूप, इस कथन में सचाई है कि आज के अधिकांश शोध-प्रबंध न तो सुनिर्धारित प्रविधि या प्रक्रिया की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हैं और न साहित्यिकता की दृष्टि से ही। लेखन-शैली पर बिना कोई अधिकार हासिल किये अथवा सुष्ठु-समर्थ शैली को बिना अर्जित किये ही इन दिनों किमाकार शोध-प्रबन्ध धड़ल्ले से लिखे जा रहे हैं।

यह भी चिन्ता का विषय है कि आजकल विश्वविद्यालयीय क्षेत्र के शोधकर्त्ता तत्त्व और सिद्धान्तों के अन्वेषण से सम्बद्ध शोध-कार्यों की ओर बहुत ही कम प्रवृत्त होते हैं। ये उन सतही विषयों की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं, जिनमें केवल सामग्री-संकलन, परिश्रम, विवरणात्मक तथ्यानुशीलन या चरित्र-चित्रण से ही काम चल जाता है। वस्तुतः जब शोध-कार्य का प्रयोजन केवल उदरम्भरि बन जाता है या उपार्जन से जुड़ जाता है, तब शोधकार्य के स्तर का गिर जाना स्वाभाविक ही है। आखिर, आनन-फानन में किये जानेवाले उपाधिपरक शोध-कार्य से कितनी ऊँची उमीद की जा सकती है। तल्ख होकर भी यह बात सच है कि अनुसंधान का उपाधि से कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं माना जाना चाहिए और किसी भी हालत में उपाधि को शोध-कार्य की अन्तिम सिद्धि के रूप में गृहीत नहीं होना चाहिए। सच पूछिए, तो उपाधि की आशु फल-कामना से दूर रहकर जो अनुसन्धान-कार्य किया जाता है, वह प्रायः उच्चस्तरीय होता है। कारण, वह चटपट कुछ पा लेने जैसा कोई चलता प्रयास नहीं होता। किन्तु, इन दिनों शोध-कार्य के पीछे व्यवसाय-वृत्ति प्रधान हो गई है और उपाधिपरकता झटिति-पटिति सम्पन्न होनेवाले अधिकांश विश्वविद्यालयीय शोधकार्यों का व्यावर्त्तक लक्षण बन गई है। मगर, इसके विपरीत एक अच्छा शोधकर्त्ता सही मानी में मरजीवा होता है और धैर्य के साथ गहराई में जाने के लिए सदैव इच्छुक एवं प्रयत्नशील रहता है। वह केवल उपयुक्त व्यवसाय प्राप्त करने तक समय-यापन या कालक्षेप के लिए शोध-कार्य नहीं करता; बल्कि उसके पास ज्ञानार्जन की सच्ची निष्ठा रहती है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामग्री-संकलन, संकेत-सारिणी, पाद-टिप्पणी, आधारग्रन्थ सूची इत्यादि प्रबन्ध-लेखन के विशिष्ट स्थापत्य से सम्बद्ध स्थूल उपकरणमात्र हैं, जिनसे शोध-प्रबन्ध का बाह्य कलेवर बनता है। मगर संग्रही या सूचीकार मनोवृत्तिवाले शोधकर्त्ता इन स्थूल उपकरणों को ही 'सब कुछ' मान लेते हैं। फलस्वरूप, ऐसे प्रबन्ध 'बाह्य कलेवर' की सारी शर्त्तों को पूरा करके भी वस्तुतः सार्थक शोध-प्रबन्ध नहीं होते। सारांश यह कि केवल संग्रही या सूचीकार को हम उत्तम कोटि का शोधकर्त्ता नहीं कह सकते।

मुख्यतः, अनुसंधान के दो प्रकार हैं—तथ्यपरक अनुसन्धान और तत्त्वपरक अनुसन्धान। किन्तु, इन दिनों एक तीसरे प्रकार के अनुसन्धान का प्रचलन अधिक है, जिसे हम उपाधि-परक अनुसन्धान कह सकते हैं। इस तीसरे प्रकार के अनुसन्धान की चर्चा अभी-अभी ऊपर की जा चुकी है। हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्धों और पंजीकृत प्रस्तावित विषयों के सर्वेक्षण से यह तुरत स्पष्ट हो जाता है कि इन दिनों तत्त्वपरक अनुसन्धान की ओर अनुसंधायकों की प्रवृत्ति घट गई है। कारण तत्त्वपरक अनुसन्धान को सम्पन्न करने के लिए भेदक मनीषा, गहन चिन्तन, तुलनात्मक व्यापक अध्ययन और एक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य की अपेक्षा होती है। इस 'अपेक्षा' को पूरा करना साधारण बात नहीं है। इसलिए, उपाधि और व्यवसाय की दृष्टि से शोध करनेवाले लोग तत्त्वपरक विषयों की ओर प्रवृत्त होने में घबड़ाते हैं। घबड़ाना भी कुछ दूर तक स्वाभाविक है; क्योंकि तत्त्वपरक अनुसंधान के अन्तर्गत प्रतीयमान और वास्तविक भेदों में छिपे हुए अन्तर्न्यस्त सम्बन्धों को उद्घाटित तथा निर्दिष्ट करने की शक्ति अपेक्षित होती है और इस प्रकार की अनुसन्धान-शक्ति का अर्जन कोई आसान काम नहीं है। इसमें किसी दो मत की गुंजाइश नहीं कि शोध-कार्य को सदैव गहन (इंटेन्सिव) और अभिनिवेशपूर्ण होना चाहिए, सर्वेक्षणात्मक प्रवृत्ति का नहीं। शोध या अनुसन्धान का आशय ही है—एक सीमित क्षेत्र में सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन करना तथा ऐसे गवेषणात्मक अध्ययन से उपलब्ध ज्ञान की वृद्धि एवं संशुद्धि करना। इस मूलभूत तथ्य की अवहेलना के कारण ही इन दिनों अधिकांश शोधप्रबन्धों में 'फालतू' अंश बहुत रहता है। उनमें अक्सर एक-चौथाई अंश काम का और तीन-चौथाई अंश व्यर्थ का विस्तार रहता है। इस प्रकार के व्यर्थ विस्तार का एक कारण आलोचना और अनुसन्धान के मूलभूत पार्थक्य की सही अवगति का अभाव भी है। आलोचना और अनुसन्धान के अन्तर को ठीक-ठीक न समझ सकने या उस अन्तर का निर्वाह ठीक से नहीं कर पाने के कारण इन दिनों आधुनिक भारतीय भाषाओं के अधिकतर शोध-प्रबन्ध शिथिल और निम्न स्तर के होते हैं।

शोध-कार्य की पहली अपेक्षा है—'मूल' स्रोतों की खोज। यानी शोध साधारण खोज नहीं है। शायद, इसीलिए अँगरेजी में इसे 'सर्च न कहकर 'रि-सर्च' कहा गया है। यह खेद का विषय है कि आजकल अधिकांश शोधकर्त्ता मूल स्रोतों तक पहुँचने की कोशिश नहीं करते और अपने उद्धरणों की सम्पुष्टि के लिए भी गौण या परोक्ष स्रोतों से काम चला लेते हैं। स्थापत्य की दृष्टि से हिन्दी-शोध-प्रबन्धों की शिथिलता का एक कारण यह भी है कि हिन्दी में प्रबन्ध-विद्या पर बहुत कम काम हुआ है, जिससे शोधार्थियों को प्रविधि और प्रणाली का ज्ञान हासिल करने में असुविधा होती है। शोधार्थियों का क्या कहना, अब तो बहुत-से शोध-निर्देशक ही ऐसे होते हैं, जिन्हें प्रबन्ध-लेखन के शिल्प और पद्धति की स्पष्ट जानकारी नहीं रहती। अतः, अब हिन्दी में प्रबन्ध-लेखन के शिल्प, स्थापत्य और प्रणाली से सम्बद्ध ऐसी पुस्तकों की रचना होनी चाहिए, जिनमें एतत् सम्बन्धी प्रामाणिक विचार और अद्यतन सूचनाएँ उपलब्ध हों। अँगरेजी में इस प्रकार की पुस्तकें उपलब्ध हैं। जैसे, 'फार्म ऐंड स्टाइल इन थीसिस राइटिंग', 'ए मैन्युअल ऑव थीसिस राइटिंग', 'ए मैन्युअल फॉर राइटर्स ऑव टर्म पेपर्स, थीसीसेज ऐण्ड डिसर्टेशन्स' इत्यादि।

इसमें शक नहीं कि हिन्दी-शोध की परम्परा दिनानुदिन समृद्ध होती जा रही है। 'तेस्सितोरी' और 'कार्पेण्टर' के द्वारा हिन्दी-साहित्य-विषयक प्रबन्ध-लेखन की जो परम्परा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विदेशी विश्वविद्यालय से प्रारम्भ हुई, वह क्रमशः स्वदेशी विश्वविद्यालयों में फैलकर परिमाण में विपुल हो गई है। लन्दन विश्वविद्यालय में उस समय आज के पी-एच० डी० की तरह डी० डी० (डॉक्टर ऑव डिविनिटी) की उपाधि दी जाती थी। जे० एन० कार्पेण्टर को सन् १९१८ ई० में 'तुलसीदास के धर्म-दर्शन' पर लन्दन-विश्वविद्यालय से 'डाक्टर ऑव डिविनिटी' की उपाधि ही मिली थी। विदेशी विश्वविद्यालयों से हिन्दी-भाषा-साहित्य-विषयक शोधोपाधि प्राप्त करनेवाले पुराने विद्वानों में मोहिउद्दीन कादिरी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० जनार्दन मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय विश्वविद्यालय से हिन्दी-सम्बन्धी विषय पर सबसे पहले डॉ० बाबूराम सक्सेना को सन् १९३१ ई० में डी० लिट्० की उपाधि मिली थी। यह उपाधि प्रयाग-विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई थी।

पहले केवल दो ही भारतीय विश्वविद्यालयों—काशी और प्रयाग—में हिन्दी विषयक शोध-कार्य करने की व्यवस्था थी। किन्तु, सन् १९३८ ई० से १९५० ई० के बीच अन्य कई विश्वविद्यालयों में हिन्दी-विषयक शोध-कार्य प्रारम्भ हुआ, जिनमें नागपुर, पंजाब, आगरा, कलकत्ता, पटना, लखनऊ और राजस्थान के नाम उल्लेखनीय हैं। अब तो लगभग चौबीस-पचीस भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी-भाषा-साहित्य-विषयक अनुसन्धान-कार्य किसी-न-किसी रूप में चल रहा है। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि सन् १९१७ ई० तक किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय में अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के सदृश ही हिन्दी-साहित्य-विषयक स्नातकोत्तर शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। सबसे पहले कलकत्ता-विश्वविद्यालय में हिन्दी-भाषा-साहित्य का स्नातकोत्तर अध्यापन प्रारम्भ हुआ था और प्राप्त सूचनाओं के अनुसार श्रीनलिनीमोहन सान्याल ने, जो एक अहिन्दीभाषी थे, सबसे पहले हिन्दी में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की थी।) कहना यह अच्छा होगा कि अब हिन्दी-शोध-कार्य हमारी उच्च शिक्षा-पद्धति और विश्वविद्यालयीय अध्ययन-क्रम का अनिवार्य अंग बन गया है तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में यह कार्य बहुत तेजी से सम्पन्न हो रहा है।

इस प्रसंग में विश्वविद्यालयीय हिन्दी-शोधकार्य की वर्त्तमान दशा पर विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। सबसे पहली बात यह है कि विश्वविद्यालयों में चल रहे हिन्दी से सम्बद्ध अनुसंधान-कार्य में विषय-निर्वाचन की दृष्टि से योजनाबद्ध प्रणाली का अभाव है। कुछ शोध-संस्थानों में अवश्य ही योजनाबद्ध विषय-निर्वाचन की प्रणाली पर शोध-कार्य कराया जा रहा है। किन्तु, आवश्यक गति के अभाव में यह अच्छी प्रणाली भी कोई अच्छा फल सामने नहीं ला रही है। यदि विश्वविद्यालयों में शोध-निर्देशकों के पारस्परिक विमर्श से विषय-निर्वाचन में योजनाबद्ध अनुसंधान-प्रणाली से काम लिया जाय, तो बहुत उत्कृष्ट परिणाम उभर कर सामने आ सकते हैं; क्योंकि विश्वविद्यालयों में अनुसंधान करनेवाले अधिकांश तरुण शोधकर्त्ता प्रायः स्थायी वेतनभोगी शोधकर्त्ताओं की तुलना में अपने अनिश्चित भविष्य के कारण अधिक तत्पर और सक्रिय होते हैं। जहाँ तक विश्वविद्यालयीय शोध-कार्य के निर्देशन का प्रश्न है, नई पीढ़ी के शोधानुभव-सम्पन्न प्राध्यापकों को शोध-निर्दे-

शन का जितना अवसर अभी दिया जा रहा है, उससे अधिक दिया जाना चाहिए। पुरानी पीढ़ी के अधिकांश निर्देशक ज्ञान तथा सूचना की दृष्टि से अनद्यतन और अनाधुनिक होते हैं तथा एकदम बासी पूँजी पर ही निरन्तर दून की हाँकते हैं। इस बात का एक दूसरा पहलू भी है। अक्सर यह महसूस किया जाता है कि उन अनुभवी और ख्यातिलब्ध शोध-निर्देशकों की संख्या घटती जा रही है, जिन्होंने शोधकार्य और शोध-निर्देशन के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किये हैं। इस अभाव और तज्जनित पीड़ा से बचने का एक मार्ग यह हो सकता है कि पुरानी पीढ़ी के ऐसे शोध-निर्देशकों को सेवानिवृत हो जाने के बाद भी पुनः विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध रखने की व्यवस्था कर ली जाय।

हिन्दी-अनुसंधान-कार्य के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए कई साधनों का उपयोग होना चाहिए। जैसे, प्रत्येक विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग और हिन्दी से सम्बद्ध प्रत्येक सरकारी शोध-संस्थान में 'रिसर्च स्टडी सर्किल' की स्थापना, एम० ए० करने के बाद पी-एच० डी० या डी० फिल० के हेतु पंजीयन के पूर्व प्री-पी-एच० डी० क्लास की व्यवस्था, एक केन्द्रीय शोध-संस्थान अथवा हिन्दी-अनुसंधान से सम्बद्ध एक अन्तर-विश्वविद्यालयीय मंच की स्थापना, मौखिक परीक्षा को औपचारिकतामात्र न मानकर उसे पूरी सख्ती से व्यवहार में लाना, प्रत्येक क्षेत्र (जोन) के कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों और सरकारी शोध-संस्थानों में अनुसंधान-प्रशिक्षण-केन्द्रों की स्थापना, एक आदर्श 'हिन्दी-ग्रंथ सूची-केन्द्र' का निर्माण कर वहाँ से विषय-विभाजन तथा कालक्रम के अनुसार हिन्दी-पुस्तकों की अद्यतन सूची का सावधिक प्रकाशन इत्यादि। निश्चय ही, इन साधनों के उपयोग से हिन्दी-शोध के क्षेत्र में जो अनियन्त्रित बिखराव है, वह क्रमशः घट जायगा और उसका सम्पूर्ण भावी विकास अभिनियन्तित हो जायगा।

इन दिनों क्रान्तिकारी वामपंथी युवा पीढ़ी का विद्रोही चिन्तन शोधकार्य को 'लक्शरी' (Luxury) घोषित करने का तर्क पेश कर रहा है। उसके अनुसार प्रत्नतात्त्विक या पुरातनिक शोधकार्य पर किया जानेवाला व्यय राष्ट्रीय साधन और आय का दुरुपयोग है। निश्चय ही, यह अतिवादी दृष्टिकोण दिग्भ्रान्त और दोषपूर्ण है। किन्तु, इस अतिवादी दृष्टिकोण में निहित एक प्रच्छन्न तथ्य अवश्य ही ग्राह्य है कि शोधकार्य को प्रणालीबद्ध वैदुष्य से सम्बद्ध होने के साथ ही अपने युग-सत्य से सम्पृक्त होना चाहिए। युग-सत्य से सम्पृक्त रहने पर ही शोधकार्य अपने समय, समाज और वस्तुनिष्ठता के प्रगतिशील संदर्भ के साथ जुड़ा रह सकता है तथा उसके द्वारा व्यापक मानव-हित की संवर्द्धना हो सकती है।

—कुमार विमल

•

हिन्दी-अनुसन्धान : कतिपय उपेक्षित क्षेत्र

हिन्दी-अनुसंधान का इतिहास अभी आधी शताब्दी की आयु भी पूरी नहीं कर सका है, फिर भी परिभाषा की दृष्टि से इसने विपुल सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इस सारी सामग्री में मूल्य की दृष्टि से उपाधि-सापेक्ष अनुसंधान की अपेक्षा उपाधिनिरपेक्ष अनुसंधान का महत्त्व अधिक है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। फिर भी यह सच है कि विषय

की नवीनता की शर्त्त पूरी करने की अनिवार्यता ने उपाधि को भी अनुसन्धित्सुओं को नये क्षेत्रों की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी है, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी-अनुसंधान में विषय की व्यापकता आई है। नवीन उपाधिकामियों की स्थिति उस सीमा तक पहुँची हुई प्रतीत होती है, जहाँ वे विषय-दारिद्र्य की शिकायत कर सकते हैं। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, यही दिखाना प्रस्तुत टिप्पणी में अभीष्ट है।

हिन्दी-अनुसंधान के लिए कोई सीमा निर्धारित कर देना तो ठीक नहीं है, पर मोटे तौर पर उसके तीन क्षेत्र स्पष्ट हैं—हिन्दी भाषा, हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-प्रदेश की संस्कृति। हिन्दी और उसकी बोलियों के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अनेक अनुसंधाताओं को उपाधियाँ मिल चुकी हैं; किन्तु भाषा-विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में देखने पर ऐसे अध्ययन बहुत ही पीछे की चीज मालूम पड़ते हैं। अमरीकी भाषाशास्त्रवेत्ताओं की अत्याधुनिक खोजों और प्राहा-स्कूल की नवीन अध्ययन-प्रणालियों के आधार पर कितने भाषिक अध्ययन हिन्दी में हो सके हैं? इधर अमरीका में भाषाओं के एककालिक (संक्रानिक) अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। स्वभावतः जीवित भाषाओं और बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो गया है। ऐसे अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण आधार है—बोलियों के वैज्ञानिक कोशों का निर्माण। अभी तक हिन्दी-प्रदेश की किसी भी बोली का बृहत् कोश वैज्ञानिक विधि से सम्पादित होकर सामने नहीं आ सका है।

अनुतान (इंटोनेशन) किसी भी जीवित भाषा के ढाँचे का एक ऐसा प्रमुख तत्त्व है, जो तुरत उस भाषा का अभिज्ञान करा देता है। वक्ता की मातृभाषा का अनुतान उसके द्वारा सीखी गई अन्य भाषाओं के बोलने को प्रभावित करता है। यही कारण है कि पश्चिमी प्रदेशों की खाँटी हिन्दी को अभ्यास द्वारा धड़ल्ले से बोल लेनेवाला पूरबी क्षेत्र का वक्ता अपनी मातृभाषा के अनुतान के प्रभाव से नहीं बच पाने के कारण पहचान में आ जाता है। अनुतान पर पश्चिम में भी अपेक्षाकृत थोड़ा ही अध्ययन हुआ है। हिन्दी की बोलियों के अनुतान-सम्बन्धी अध्ययन की दिशा में प्रायः कुछ भी महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान सामने नहीं आ सका है। एकाध निबंध-भर मिलते हैं।

बोलियों में व्यवहृत बहुतेरे शब्द अपने साथ सांस्कृतिक, राजनीतिक या धार्मिक इतिहास का कुछ अस्पष्ट अंश साथ किये होते हैं। उनके ऐसे अनुषंगों का अनुसंधान अनेक महत्त्वपूर्ण अपरिज्ञात या अल्प तथ्यों को उद्घाटित कर सकेगा। उदाहरणार्थ, किसी बोली के घृणासूचक शब्दों का अध्ययन अनेक मनोरंजक तथ्यों को प्रकाश में ला सकता है।

साहित्यिक मूल्य उद्घाटित करने की दृष्टि से महाकवियों के शब्द-प्रयोग पर भी बहुत थोड़ा कार्य हुआ है। अनुसंधाताओं द्वारा महाकवियों की भाषा पर लिखे जानेवाले अधिकांश प्रबंधों में व्याकरणिक ढाँचे को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। शब्द-शक्तियों की कलात्मक अभिव्यंजना पर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

हिन्दी और उसकी बोलियों में आगत विदेशी शब्दों का ध्वन्यात्मक और अर्थ-संबंधी परिवर्तन भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जो अबतक प्रायः उपेक्षित है। प्रत्येक भाषा के कुछ अपने ध्वन्यात्मक वैशिष्ट्य होते हैं, जिनका उसके ढाँचे के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। अपनी इन विशेषताओं के अनुरूप वह स्वीकार किये गये

विदेशी शब्दों को ढालती है। अतएव किसी भाषा में आगत विदेशी शब्दों में हुए ध्वन्यात्मक परिवर्त्तनों के अध्ययन से उसके विशिष्ट ध्वन्यात्मक ढाँचे का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा, यह साफ है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य अनुसन्धित्सुओं के लिए आकर्षण का जैसा केन्द्र रहा है, वैसा उसका प्राचीन साहित्य नहीं। प्राचीन साहित्य के अनुसन्धान का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पाठालोचन है। पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रविधियों का उपयोग करते हुए हिन्दी की सभी महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित कृतियों का पाठ-संपादन नहीं हो सका है। यद्यपि स्वर्गीय डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, स्व० डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवं आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान है, तथापि मानना पड़ेगा कि हिन्दी पाठानुसंधान के क्षेत्र में अबतक कोई सुकथंकर पैदा नहीं हो सका है। वैज्ञानिक पाठानुसंधान के लिए हस्त-लेखों का सम्यक् अनुसंधान अनिवार्य है। अभी तक हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का कार्य प्रधानतः उत्तर प्रदेश और राजस्थान में हुआ है। बिहार में भी 'राष्ट्रभाषा-परिषद्' के तत्त्वावधान में खोज का कुछ कार्य हुआ, जिससे अनेक अज्ञात या अल्पज्ञात हिन्दी ग्रंथकारों की अनेक अपरिचित रचनाएँ उपलब्ध हुईं। उनमें से कुछ को सम्पादित करके परिषद् ने प्रकाशित भी किया है, फिर भी समग्र हिन्दी-क्षेत्र में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का काम बहुत-कुछ बाकी है।

अनेक संस्थाओं के जिम्मे जो हस्तलिखित ग्रंथ हैं, उनकी विवरणात्मक सूचियाँ प्रकाशित हुई हैं। पर इसके बाद का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होना है, उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। विभिन्न संग्रहालयों में प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों का वशंवद अभी एक भी तैयार नहीं हुआ है। इस दृष्टि से संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों की स्थिति भी समान ही है।

लोक-साहित्य का अध्ययन भी अभी शैशवावस्था में ही है। अभी तक संग्रह का कार्य भी पूर्ण नहीं हो सका है, उसके आधार पर होनेवाले वैज्ञानिक अनुसंधान की बात अलग है। विभिन्न बोलियों में प्राप्य लोकवार्ताओं का तुलनात्मक अध्ययन नृतत्त्वशास्त्र एवं जातिविज्ञान के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्‌घाटन कर सकता है।

हिन्दी-प्रदेश की संस्कृति से संबधित अनुसंधान तो बहुत ही अल्प मात्रा में हुआ है। कुछ जिलों के हिन्दू नामों का तथा कृषि-संबंधी शब्दों का अध्ययन अवश्य हुआ है; पर गाँवों के नामों का अध्ययन एवं प्राचीन स्थानवाची नामों के वर्त्तमान स्थानों को निर्दिष्ट करने का प्रयास भी होना चाहिए। संस्कारों, पर्वत्योहारों, ग्रामीण कलाकौशलों, शिल्पों का भी अनुसंधान महत्त्वपूर्ण है। समानान्तर अन्धविश्वासों, रीति-रिवाजों, गाथाओं और पुराकथाओं का भी व्यापक अध्ययन अपेक्षित है।

वैज्ञानिक अनुसंधान के कतिपय क्षेत्रों का उपर्युक्त संकेत दिग्दर्शन मात्र है। और भी बहुत-से क्षेत्र उपेक्षित पड़े हैं, जिनकी ओर विद्वानों और उपाधि धारी अनुसंधित्सुओं का भी ध्यान जाना चाहिए। हिन्दी की समृद्धि के लिए यह आवश्यक कर्त्तव्य है।

—शम्भुदत्त झा

सन्त-काव्य का अभिप्राय और प्रयोजन

● आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

सन्तों की उपलब्ध बानियों के विषय में सर्वसाधारण की यह धारणा बनी रहती आई है कि इनमें काव्य-तत्त्व का सर्वथा अभाव है। प्रायः समझा जाता रहा है कि इनकी रचना का प्रमुख उद्देश्य केवल किसी मत-विशेष के प्रचार करने-मात्र का रहा होगा, जिस कारण इनमें कोरे उपदेशों की ही भरमार मिल सकती है। इनके रचयिता अधिकतर अनपढ़ और अशिक्षित रहे, जिस कारण इनकी भाषा एवं रचना-शैली में किसी प्रकार की सुव्यवस्था नहीं पाई जा सकती। इसी प्रकार, इनमें हमें, ढूँढ़ने पर भी, कदाचित् कोई वैसी बात नहीं मिल सके, जिसे किसी काव्यशास्त्रीय मानदण्ड के अनुसार सुन्दर कहा जा सकता है। इस प्रकार का मत बहुधा उन विद्वानों की ओर से भी प्रकट किया गया मिलता है, जिनके सम्बन्ध में समझा जाता है कि उन्हें काव्य-तत्त्व के वास्तविक मर्म और रूप का यथेष्ट परिचय प्राप्त रहा होगा। इसी कारण उन्हें सर्वमान्य भी कह सकते हैं।

अतएव, इसका एक परिणाम यह हुआ है कि न केवल, उनके अनुसरण में, वैसा कथन अन्य अनेक लोग भी करते आये हैं, अपितु इसके कारण, सन्त-साहित्य का अधिकांश बहुत कुछ अपठित एवं उपेक्षित-सा भी रहता आया है। इसे साधारणतः केवल उन्हीं लोगों ने पढ़ने की चेष्टा की है, जो या तो उक्त सन्तोंवाली किसी-न-किसी साम्प्रदायिक परम्परा के अनुयायी रहे हैं अथवा जिनकी, इन्हें देखने की प्रवृत्ति, कभी किसी कुतूहल या जिज्ञासा-मात्र से प्रेरित होकर ही जगी है। तदनुसार, ऐसे पाठकों का ध्यान, स्वभावतः इसकी किसी साहित्यिक परीक्षा की ओर कम जा पाया है और यदि कभी गया भी है, तो उन्होंने ऐसा करते समय, उन कतिपय रूढ़िगत मतों का ही खतरा लिया है, जो साधारण काव्य-कृतियों के विषय में लागू होते आये हैं।

जिस किसी भी रचना को हम आज 'काव्य' की संज्ञा दिया करते हैं, उसे वैसा कहने का मूल आधार बहुधा हम केवल उस काव्यशास्त्रीय परम्परा को ही मान लिया करते हैं, जिसका सूत्रपात हमारे यहाँ, कभी भरत मुनि के समय में, हुआ होगा। कहते हैं कि हमारे काव्यशास्त्र की प्रतिष्ठा, सर्वप्रथम उस काल में हुई थी, जब कि ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी के अन्तर्गत कभी उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' की रचना करना आवश्यक समझा था। उन्होंने, अपने युगवाले विभिन्न अभिनयों के ऊपर विचार करने के प्रसंग में, पहले-पहल, शृंगारादि रसों को महत्त्व प्रदान किया था और तत्पश्चात् उनके वैसे रसवाद की ओर ध्यान जाते रहने के फलस्वरूप, आगे चलकर, क्रमशः भामह के 'अलंकारवाद', वामन के 'रीतिवाद', आनन्दवर्द्धन के 'ध्वनिवाद', कुन्तक के 'वक्रोक्तिवाद' एवं क्षेमेन्द्र के 'औचित्यवाद' का भी प्रचार होता गया। इस प्रकार, अन्त में, हमारे सामने

अपने काव्यशास्त्र का वह रूप उपस्थित हो गया, जिसके आधार पर हम आज किसी भी रचना के काव्यत्व की परीक्षा करने लग जाते हैं तथा यह प्रायः स्वीकार भी कर लिया करते हैं कि यदि वह उपर्युक्त काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित नियमों के सर्वथा अनुरूप ठहर पाती हैं, तो, केवल उस दशा में ही, उसे वास्तविक 'काव्य' कहा जा सकता है और तदनुसार, ऐसा न होने की दशा में उसके प्रति, इस दृष्टि से उपेक्षा तक भी प्रदर्शित की जा सकती है ।

परन्तु, यदि हम 'काव्य' शब्द से अभिप्राय केवल उतना ही न मान बैठें, जितना उक्त काव्यशास्त्रों के आधार पर सूचित होना समझा जाता है तथा यदि इसके उस मौलिक अर्थ की ओर भी ध्यान दे सकें, जिसके अनुसार, इसका कभी पहले, प्रयोग किया जाता रहा होगा, तो हमें, इस विषय में, बन गई अपनी वैसी धारणा में, कुछ परिवर्त्तन भी करना पड़ सकता है । यह 'काव्य' शब्द 'कवि' के आधार पर बना है, जिस कारण इसका अर्थ भी बहुधा 'कविकर्म' किया जाता है । इसलिए, हम यह भी कह सकते हैं कि इसके लक्षणों के अन्तर्गत भी, प्रधानतः उन्हीं विशिष्ट बातों का समावेश किया जाना चाहिए, जो 'कवि' शब्दवाले मौलिक अभिप्राय को सूचित करती है अथवा जो उसका परिचय दिलाने में समर्थ हों। इस प्रकार, यदि हम 'कवि' का अर्थ समझने की चेष्टा करते हैं, तो हमें पता चलता है कि वह 'कुङ्' अथवा 'कवृ' के आधार पर बना है, जिस कारण उसका तात्पर्य साधारणतः जाननेवाला अथवा वर्णन करनेवाला समझा जा सकता है । इसी के अनुसार इसके अनेक प्रयोग, हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्य में भी किये गये मिलते हैं । उदाहरण के लिए, 'अथर्ववेद' के अन्तर्गत इसका एक अर्थ क्रान्तदर्शी एवं प्रज्ञावान् किया गया दीख पड़ता है ।[1] इसी प्रकार, 'ऋग्वेद' में भी इसे, एक स्थल पर 'मनीषिणः कवयः'[2] के रूप में प्रयुक्त कर दिया गया है, जिससे भी उसी बात की पुष्टि होती जान पड़ती है । 'यजुर्वेद' के ४०वें अध्याय के अन्तर्गत आनेवाली 'ईशोपनिषद्' में तो 'कवि' एवं 'मनीषी' शब्दों का प्रयोग, एक साथ, स्वयं स्वयम्भू तक के लिए किया गया मिलता है, जो वहाँ 'ईश', अर्थात् 'परमार्थतत्त्व' का भी वाचक ठहराया जा सकता है ।[3]

'कवि' शब्द का 'मनीषी', 'प्रज्ञावान्' आदि जैसे शब्दोंवाले अर्थ में, 'श्रीमद्भगवद्गीता' की रचना के समय तक प्रयोग होता आया था और हो सकता है कि इसके अनन्तर बहुत दिनों तक यह शब्द उन्हीं के अभिप्राय का द्योतक बना रहता आया हो । 'श्रीमद्भगवद्गीता' में जहाँ कहा गया है कि कर्म कौन है और अकर्म किसे कहते हैं, इस बात का निर्णय करते समय कवियों, अर्थात् बड़े-बड़े विद्वानों वा पण्डितों को भी भ्रम हो जाया करता है;[4] वहाँ इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता । 'ऋग्वेद' के अन्तर्गत ऐसे प्रसंगों का आना कि "मैं तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा से, अज्ञान शिष्यवत् बनकर और, कवियों वा क्रान्तदर्शियों

१. तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः । (का० १९, सू० ५३, मं० १)
२. कवयो मनीषिणः । (९।७२।६)
३. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः । (मन्त्र ८)
४. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः । (अ० ४, श्लो० १६)

के निकट जाकर प्रश्न किया करता हूँ;[१] अथवा कवियों के विषय में 'प्रश्नोपनिषद्' में एक स्थल पर ऐसा कहा जाना कि इस बात को केवल कवि ही जानते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा किस लोक की प्राप्ति होती है तथा यजुर्वेद एवं सामवेद के भी मन्त्रों के आधार पर कौन-सा लोक प्राप्त हो सकता है,[२] इसी प्रकार की धारणा का समर्थन करता जान पड़ता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसे कवियों अथवा 'कवि' कहे जानेवाले ज्ञानियों अथवा विद्वानों के किसी कार्य या कृति को कभी 'काव्य' की संज्ञा भी दी जाती नहीं पाई जाती और न वहाँ उनकी क्रान्तदर्शिता के अतिरिक्त अन्य बातों की चर्चा ही की जाती है। यों तो, कवि शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए किये जाने की दशा में, उसकी सृष्टि को 'देवस्य काव्यम्'[३] कह डालने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है, किन्तु फिर भी यहाँ 'काव्य' शब्द का अर्थ, रचना वा 'कृति' ही होता है, उसे 'कविता' भी नहीं कह सकते। उसके लिए कदाचित् इतना ही कहा गया है कि उस 'कवि' ने शाश्वत काल तक चलनेवाले कर्त्तव्यों या पदार्थों का यथावत् विधान किया था।[४]

'काव्य' शब्द के 'कविता'-सूचक अर्थ की दृष्टि से उसका प्रयोग, ब्रह्मा द्वारा वेदों की रचना की जाने के कारण, उन्हें कहीं-कहीं 'आदिकवि' के रूप में देखते हुए, किया गया भी जान पड़ता है।[५] किन्तु, वहाँ हम यह नहीं कह सकते कि उनकी 'कविता' मान लिये जाने पर भी उक्त वेदों के विषय में किसी 'काव्यत्व' को भी ध्यान में रखा गया होगा। इस प्रकार की धारणा हमें सर्वप्रथम, उस समय से ही होने लगती है, जिस समय 'आदिकवि' कहे जानेवाले महर्षि वाल्मीकि का नाम लेते हैं तथा विशेषकर जब हम उनका परिचय महाकवि कालिदास के द्वारा इस प्रकार दिया गया देखते हैं कि (अपने पति द्वारा त्यक्त सीता के) रुदन का अनुसरण करके, वहाँ वे कवि भी, जो कुश एवं ईन्धन का संग्रह करने जा रहे थे तथा जिनका, निषाद के द्वारा बिद्ध पक्षी को देखते ही, जागृत हो गया शोक, श्लोक के रूप में निःसृत हो चुका था।[६] इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि महर्षि वाल्मीकि के हृदय में जो करुणा का भाव जगा था, वह उनके द्वारा अनुभूत किसी ऐसी मार्मिक वेदना का परिणाम था, जो एक असहाय प्राणी के प्रति किये गये किसी मानव के निर्दयतापूर्ण व्यवहार के कारण, उत्पन्न हुई थी तथा जो इसीलिए, उनकी संवेदनशीलता एवं विशालहृदयता का परिचायक थी और जो आप-से-आप, उद्भूत भी हुई थी। इसके लिए उन्हें, किसी दार्शनिक की भाँति चिन्तन अथवा तर्क-वितर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी और न किसी

---

१. अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि। (मण्डल १, सूक्त ६४, मन्त्र ६)
२. ऋग्भिदेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभि यत्कवयो वेदयन्ते। (प्रश्न ५, मन्त्र ७)
३. पश्य देवस्य काव्यं न ममार जीर्यति। (श्रुति)
४. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (ईशो०, मन्त्र ८)
५. तेने ब्रह्महृदाय आदिकवये इत्यादि। (श्रीमद्भागवत)
६. तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय जातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ (रघुवंश)

वैज्ञानिक के रूप में उक्त घटना के सम्यक् निरीक्षण का ही उन्हें अवसर मिला। उनकी अन्तश्चेतना के ऊपर जो उक्त घटना का गहरा प्रभाव पड़ा, उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनकी अभिव्यक्ति-मात्र ही उनके भावपूर्ण शब्दों में फूट पड़ी।

इस प्रकार, यदि आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के ही समय से, वैसे काव्य की रचना का आरम्भ होना भी मान लिया जाय, तो हम इतना और भी कह सकते हैं कि इसके प्रमुख लक्षणों में, कम-से-कम, दो बातों का समावेश किया जा सकता है। एक तो यह कि ऐसी विलक्षण अभिव्यक्ति को भरसक स्वतः प्रसूत अथवा अल्पायासजन्य होना चाहिए तथा दूसरे यह कि उसका मूलाधार भी कोई ऐसी ही अनुभूति होनी चाहिए, जो यथासम्भव मार्मिक हो और जो इसी कारण, अपने श्रोता वा पाठक के भी अन्तस्तल को भरसक उसी प्रकार आन्दोलित कर सके, जिस प्रकार उसने स्वयं कवि को, उसके हृदय में जागरित होकर किया था और इसके परिणामस्वरूप उसे इसको प्रकट करने के लिए कदाचित् विवश तक भी होना पड़ गया था। अतएव, प्रत्येक काव्यमयी रचना के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि एक ओर जहाँ उसका वर्ण्य विषय अथवा भाव यथेष्ट मनोरम रहे, वहाँ दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति की शैली तक इस प्रकार सशक्त हो कि उसके द्वारा किसी श्रोता वा पाठक पर यथोचित प्रभाव भी डाला जा सके। इसके अतिरिक्त, इतना और भी कहा जा सकता है कि, यदि उसका रचयिता कवि, कहीं क्रान्तदर्शी अथवा द्रष्टा भी होने के कारण, परोक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कर दिखाने में अपने को समर्थ सिद्ध कर सके, तो वैसे काव्य के आदर्श बन जाने में भी सन्देह नहीं रह जाता। श्रीअरविन्द के अनुसार, "काव्यमयी वाणी की यह एक अपनी विशेषता है कि हमें वह केवल चिन्तन एवं अनुभूति-मात्र के ही योग्य न बना दे, प्रत्युत हमें कोई ऐसी दृष्टि भी प्रदान कर दे, जिसमें दोनों का समावेश हो जाय। चिन्तन एवं अनुभूति ये दोनों वस्तुतः वैसी किसी दृष्टि में ही अन्तर्भुक्त हैं; क्योंकि उक्त वाणी की शक्ति अथवा उसका प्रभाव भी केवल उसी पर निर्भर हैं।"[1]

परन्तु, हम साधारणतः देखते हैं कि काव्य कही जानेवाली सभी उपलब्ध रचनाएँ उपर्युक्त उच्च कोटि की ही नहीं हुआ करतीं। इनमें से अनेक ऐसी जान पड़ती हैं, जैसे उनमें व्यक्त किया गया भाव तो बहुत भव्य और उत्कृष्ट कहलाने योग्य है, किन्तु जिस माध्यम को उसे व्यक्त करते समय काम में लाया गया है, वह उसके अनुरूप उतना सक्षम सिद्ध नहीं किया जा सके। इसके विपरीत बहुत-सी ऐसी हो सकती हैं, जिनकी भाषा एवं रचना-शैली तो बहुत आकर्षक हो, किन्तु उनके द्वारा व्यक्त किया गया भाव उतना सुन्दर अथवा उपादेय नहीं ठहराया जा सकता हो। अतएव, प्रथम वर्गवाली काव्य-रचना को

---

१. "The essential power of the poetic word is to make us see, not to make us think or feel; thought and feeling must arise out of sight is the primary consequence and power of poetic speech"—The **F**uture poetry (Pondicherry), p. 33.

जहाँ 'भाव-प्रधान' कहने की परम्परा चली आती है, वहाँ दूसरे वर्गवाली को 'रचनाशैली-प्रधान' कह दिया जाता है। किन्तु, जिन वैसी कृतियों में उक्त दोनों प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं, उनके लिए ऐसे किसी कथन की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। वास्तव में, 'रचनाशैली-प्रधान काव्य' के रचयिता द्वारा जहाँ हम अधिकतर रचना-कौशल का प्रदर्शित किया जाना तथा तदनुसार उसमें शब्द-सौन्दर्य को प्रकट कर किसी-न-किसी प्रकार चमत्कार का उत्पन्न किया जाना भी पाते हैं, वहाँ 'भावप्रधान' रचनाओं के कवियों को हम देखते हैं कि ये वैसी बातों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया करते, प्रत्युत कभी-कभी उधर उपेक्षा का भाव तक भी प्रदर्शित करने लग जाते हैं। इसके मूल में उनकी वह धारणा काम करती जान पड़ती है, जिसके अनुसार वे उसे मायाजनित नश्वर माना करते हैं और किसी शाश्वत सत्य का साक्षात्कार करने को लालायित रहते हैं। वास्तव में, संसार के नहीं, सांसारिक प्रलोभनों के प्रति उनके उदासीन दीखने का रहस्य उनकी मायामुक्त (अनासक्त) रहने की अभिलाषा में निहित है। इस दूसरे प्रकार के कवि की अभिव्यक्ति अधिक-से-अधिक, स्वाभाविक-मात्र बनकर ही रह जाना चाहती है; किन्तु 'रचनाशैली-प्रधान काव्य' का रचयिता उसे जान-बूझकर बहुत कुछ कलात्मक रूप तक भी प्रदान कर देना चाहता है, जिससे उसके रचना-चातुर्य की प्रशंसा तक की जा सके।

हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत हमें 'रचनाशैली-प्रधान' काव्यों की अधिक संख्या, उसके रीतिकालीन कवियों की ही रचनाओं में, दीख पड़ती है, जहाँ उन्होंने, साधारण-से-साधारण विषयों को भी लेकर, उनपर अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित करने तथा इस प्रकार कभी-कभी निरर्थक शब्दजाल बिछाने तक की भरपूर चेष्टा की है। इसके लिए उन्होंने, प्रचलित काव्यशास्त्र की रूढ़िगत मान्यताओं को उदाहृत करने का प्रयास, जितनी दूर तक किया है, उतना उन्होंने इस बात की ओर भी अपनी दृष्टि का डालना आवश्यक नहीं समझा कि इसके द्वारा उनकी कृति के अन्तर्गत कृत्रिमता कहाँतक आ जाती है तथा इसके कारण, कभी-कभी वह कोई हास्यास्पद रूप तक ग्रहण कर लिया करती है। परन्तु, फिर भी उनके लिए प्रायः दावा किया जाता है कि उनकी रूपाश्रित रचना ही यथार्थ में, वास्तविक काव्य की कोटि में स्थान पाने की अधिकारिणी है। इसी प्रकार, जहाँतक 'भावप्रधान' काव्यवाले उपयुक्त उदाहरणों के लिए, कहा जा सकता है, इन्हें अधिकतर हम सन्त-साहित्य कही जानेवाली उन विशिष्ट रचनाओं के अन्तर्गत पाते हैं, जहाँ उनके कवियों ने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति-मात्र के सामने इस बात की कोई भी परवाह नहीं की है कि वह कहाँतक काव्यशास्त्र द्वारा विहित नियमों का यथावत् अनुसरण करता है तथा उसे कहाँतक रचना-शैली की दृष्टि से सुन्दर कहा जा सकता है। फलतः, सन्त कवि अपनी रचनाओं के काव्यमयी होने का प्रायः कोई दावा भी नहीं किया करते।

काव्यशास्त्रीय नियमों का पालन करने में सचेष्ट रहनेवाले कवियों के लिए यह भी समझा जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाएँ प्रधानतः किसी ऐसे उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ही प्रस्तुत की होंगी, जिनकी ओर उन्हें प्रचलित करनेवाले प्रमुख आचार्यों ने कई बार संकेत किये हैं तथा जिन्हें यशोलिप्सा, धनप्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, कष्टमोचन, नीति-निरूपण आदि

जैसे अनेक रूपों में, प्रकट किया गया मिलता है। वास्तव में, इस प्रकार की अभिलाषा से काव्य-रचना में प्रवृत्त होनेवाले कवि साधारणतः वे ही हुआ करते थे, जो या तो किसी-न-किसी राजदरबार के आश्रित रहते थे अथवा, ऐसा न होने की दशा में भी, प्रायः किसी-न-किसी प्रकार की स्वार्थपरता द्वारा ही अनुप्राणित रहे। अतएव, मानव-जीवन की आदर्श-परक व्यापक दृष्टि के अनुसार विचार करने पर उनके वैसे कार्य को उतना मूल्यवान् ठहराना कठिन था, किन्तु फिर भी उन्हें अपने युगानुरूप लोकप्रियता प्राप्त करने में सफलता मिल जाती रही। परन्तु, सन्त कवियों के लिए भी इस प्रकार की कोई बात नहीं कहीं जा सकती; क्योंकि न तो उन्हें किसी प्रकार के राज्याश्रय का लोभ सता सकता था, न उनका कोई इस प्रकार का अभीष्ट ही हो सकता था, जिसे उक्त उद्देश्यों में अधिकांश के मेल में बिठाया जा सके अथवा जिसके अनुसार किसी लौकिक स्वार्थपरता का दोष ही उनपर मढ़ा जा सके। उनके विषय में किसी-न-किसी प्रकार की आनन्दोपलब्धि एवं उपदेश-दान की चर्चा अवश्य की जा सकती है, किन्तु यदि इनमें से प्रथम का सम्बन्ध ब्रह्मानुभूति के साथ जोड़ा जा सकता हो तथा द्वितीय को भी, इसी प्रकार 'जनहिताय' की दृष्टि से यथोचित महत्त्व दिया जा सके, तो इन दोनों को भी किसी क्षुद्र संकीर्णता के आरोप से मुक्त कर पाना असम्भव न होगा।

सन्त कवियों ने काव्यतत्त्व की कोई समुचित व्याख्या प्रस्तुत करने की बहुत कम चेष्टा की है। उन्होंने, कदाचित्, ऐसा करने की आवश्यकता का कभी अनुभव ही नहीं किया और यदि कभी उनका ध्यान इस ओर गया, तो उस दशा में भी उन्होंने इसके साधारण महत्त्व अथवा इसकी वास्तविक उपयोगिता की ओर ही संकेत करके छोड़ देना उचित समझा। इसे उन्होंने, वस्तुतः अपनी दृष्टि-विशेष के अनुसार परखने का यत्न किया और उसके फलस्वरूप अपना मत प्रकट किया तथा इस सन्दर्भ में उन्होंने यहाँतक कह डाला कि जिस 'कविकर्म' को हम प्रत्यक्षतः काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार, उत्कृष्ट रचना का स्रोत मानकर उसे सर्वथा सराहनीय कह दिया करते हैं, उसको यथार्थ में, कोई वैसा श्रेय नहीं दिया जा सकता। सन्त कबीर के अनुसार, "जिस व्यक्ति को हम 'कवि' कहा करते हैं, वह भी उसी प्रकार मर जाया करता है, जिस प्रकार कोई 'कापड़ी' साधु, व्यर्थ की केदारनाथ-यात्रा (तीर्थयात्रा) करके, मर जाया करता है अथवा 'व्रती' कहे जानेवाले जैन साधु अपनी लुंचन-क्रिया द्वारा बाल नोच-नोचकर मर जाया करते हैं और इनमें किसी को भी सही वस्तुस्थिति का कभी बोध नहीं हो पाता।[१] सन्त रैदास ने भी, कवि के ही साथ, ज्ञानी, गुणी, शूरवीर, दाता, कुलीन, पण्डित, योगी, संन्यासी आदि को भी, अपने-अपने को व्यर्थ बड़ा समझने के कारण, बुद्धिहीन ठहराया है और कहा है कि 'राम' के विना इनमें से

---

१. कवि कवीनें कविता मूये, कापड़ी कैदारौ जाई।
केस लूंचि लूंचि मुये बरतिया, इनमें किनहूँ न पाई ॥ (क० ग्रं०, पद ३१७, पृ० १९५)

किसी का भी सन्देह दूर नहीं हो पाता; क्योंकि वही वस्तुतः एकमात्र आधार एवं 'जीवन' अथवा 'प्राण' कहा जा सकता है।[1]

सन्त कबीर एवं रैदास, जहाँतक पता है, कम पढ़े-लिखे थे और उन्हें कदाचित् काव्य-रचना के महत्त्व का वैसा ज्ञान भी नहीं रहा, जैसा काव्यशास्त्र के नियमानुसार लिखनेवालों के विषय में कहा जा सकता है। इन दोनों अथवा अन्य अनेक ऐसे सन्तों के विषय में तो, इसीलिए, यहाँतक भी कहा जा सकता है कि ये उस कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे, जिस कारण इनकी ओर से उक्त प्रकार का मत-प्रदर्शन करना उतना महत्त्व नहीं रखता। परन्तु, इन हिन्दी-सन्तों में भी एकाध ऐसे भी हो गये हैं, जिन्होंने सम्भवतः काव्य-शास्त्र का न केवल अच्छा अध्ययन किया था, प्रत्युत जिनकी उपलब्ध बानियों के आधार पर, हम कह सकते हैं कि उन्होंने इनमें अपने रचना-कौशल का परिचय भी दे दिया है। इनमें यदि हम सन्त सुन्दरदास का नाम लें, तो अनुचित न होगा; क्योंकि इन्होंने आद्यक्षरी, मध्याक्षरी, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका आदि के अतिरिक्त चित्रकाव्यवाले 'बन्धों' तक की रचना-शैली के प्रयोग किये हैं और अपनी इस धुन में अनेक इस प्रकार की कविताएँ भी रच डाली हैं, जिनके द्वारा उनका काव्यकौशल-मात्र ही सिद्ध हो सकता है। परन्तु, जहाँतक उनके द्वारा सन्त-काव्य के आदर्श का सही परिचय दिये जाने की बात है, वे बहुत स्पष्ट शब्दों में, अपना मत प्रकट कर देते हैं तथा इसके साथ ही अपने समय में काव्यशास्त्रीय रीति से रची गई एकाध रचनाओं की खरी आलोचना करने से भी वे नहीं चूकते, जिससे उक्त बातों का समर्थन भली भाँति हो जाता दीख पड़ता है।

सन्त सुन्दरदास का कहना है कि 'रसिकप्रिया' आदि काव्य-रचनाओं को कवियों ने बड़ी निपुणता के साथ विष के रूप में प्रस्तुत किया है और वे विषयी जीवों को प्यारी लगा करती हैं, उन्हें पढ़ते वा सुनते ही लोग नारियों के नखशिख की प्रशंसा करने लगते हैं और उनमें कामोद्दीपन उसी प्रकार होने लगता है, जिस प्रकार मिष्टान्न खा लेने के पश्चात् रोगियों के रोग में वृद्धि हो जाने की दशा देखने में आती है, अर्थात् इस प्रकार इनकी विषयलोलुपता और भी अधिक उत्तेजित हो जाया करती है।[2] सन्त सुन्दरदास ने इस बात को फिर इसके आगे, आनेवाले कुण्डलियाँ में कुछ और विस्तार देते हुए बतलाया है; जैसे "रसिकप्रियादि का श्रवण करने-मात्र से मनोविकार उत्पन्न होने लगते हैं और जो कोई भी

---

१. हम बड़ कुलीन हम पंडित, हम जोगी संन्यासी।
ज्ञानी, गुणी, सूर हम दाता, याहु कहै मति नासी॥
— रैदासजी की बाणी (वे० प्रे०) पद १३, पृ० ८।

२. रसिक प्रिया रसमंजरी और सिंगारहि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आनि॥
बिषै बनाई आनि लगत विषयिन कौं प्यारो।
जागै मदन प्रचंड सराहैं नख शिख नारी॥
ज्यौं रोगी मिष्ठान पाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जु तो रसिक प्रिया धारै॥५॥
—सुन्दरग्रन्थावली (द्वितीय खण्ड), पृ० ४३९।

उधर आकृष्ट हो जाता है वह उसके कारण चौपट हुए विना नहीं रह पाता, विषय की बातों को सुनते ही अपने भीतर विष की लहरें उठने लग जाती हैं और उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे ऊँघनेवाले को सोने के लिए कोई बिछी-बिछाई सेज मिल गई हो।''[१] इन्होंने, इसी कारण, कविता का लक्षण बताते हुए भी, अन्यत्र अपने एक छप्पय द्वारा कहा है, वास्तव में सर्वांगसुन्दर होने पर ही कोई कविता अच्छी लगती है और अंगहीन होने पर कविजन, उसे सुनते ही भाग खड़े होते हैं। यदि किसी कविता में अक्षरों की न्यूनाधिकता पाई जाती है, तो वह किसी लुढ़कते चलनेवाले मनुष्य की भाँति आगे बढ़ा करती है और यदि उसमें मात्रा की घटी-बढ़ी देखने में आती है, तो वह किसी मतवाले की भाँति हिलती-डुलती-सी रहा करती है। इसी प्रकार, बेमेल तुकोंवाली कविता ऐंची-कानी हुआ करती है तथा अर्थ हीन काव्य अन्धों से कम नहीं समझा जाता। फिर भी, वास्तव में किसी काव्य का प्राण 'हरियश' ही कहा जा सकता है; क्योंकि उसके विना वह शव के समान बन जाया करती है।[२]

स्पष्ट है कि सन्त सुन्दरदासवाले उक्त 'हरियश' को ही सन्त रैदास ने भी 'राम' शब्द के द्वारा अभिहित किया है। सन्त दरिया साहब ने अपनी एक 'बानी' के अन्तर्गत हमें बतलाया है कि ''यदि राम का सुमिरन दिन-रात किया जा सके, तो यही वास्तव में सभी कवित्तों का अर्थ प्रकट करता है तथा इसी को सभी बातों-की-बात भी कहा जा सकता है।[3] इसी प्रकार सन्त जगजीवनदास ने भी कलि के भीतर सदा बिवाद में लगे रहनेवाले तथा सन्तों की बातें न समझते हुए मनमाने रूप में गान करते रहनेवालों अथवा सम्भवतः साखी, शब्दादि की रचना करते रहनेवालों के विषय में कहा है कि ऐसे लोग स्वांग बनाकर सबमें अपने को पुजाते फिरा करते हैं, कभी विवेक से काम नहीं लेते, बल्कि 'नाम' को तो विस्मृत कर दिया करते हैं तथा 'विज्ञानी', 'ज्ञानी' अथवा 'कविता' (कवि) के रूप में इधर-

---

१. रसिकप्रिया के सुनत ही, उपजै बहुत विकार।
 जो या माँही चित्त दे, वहै होत नर ख्वार॥
 वहै होत नर ख्वार वार तौ कछुक न लागै
 सुनत विषय की बात लहरि विष ही की जागै॥
 ज्यों काई ऊँघै हुतौ लही पुनि सेज बिछाई।
 सुन्दर ऐसी जानि सुनत रसिकप्रिया भाई॥६॥
 (सु० ग्रं० द्वितीय खण्ड, पृ० ४४०)

२. नख शिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीको लगौ।
 अंगहीन जौं पढ़ै सुनत कविजन उठि भगौ॥
 अक्षर घटि बढ़ि होई जुड़ावत नर ज्यौं चल्लै।
 मात घटै बढ़ि कोइ मनौं मतवारे हल्लै॥
 औ ढेर कांण सौं तुक अमिल, अर्थहीन अंधो यथा।
 कहि सुन्दर हरिजस जीव है, हरिजस बिन मत कहि तथा॥२५॥
 (वही, पृ० ९७२)

३. सकल कवित का अर्थ है, सकल बात की बात।
 दरिया सुमिरन राम का, कर लीजै दिन रात॥ (बानी, पृ० ९)

उधर भ्रमण करने लग जाते हैं।[१] सन्त पलटू साहब ने भी, लगभग इसी बात को इस रूप में कहा है : "जब हमें निःअक्षर मिल गया, तब फिर अब अक्षर को लेकर क्या करना है और यदि हीरा हाथ लग गया, तो फिर पोत (गुरिया) की सराहना करने का अर्थ ही क्या रह जाता है। वास्तव में, पण्डित वही है, जो अपने हाथ में लेखनी धारण नहीं किया करता और विना कागज एवं स्याही के ही, उस रहस्य को प्रकट कर दिया करता है।"[२] अतएव, सन्त कबीर साहब ने भी, अपनी बानी के विषय में, कह दिया है : "ऐसा मत समझो कि यह केवल एक 'गीत'-मात्र है, यह तो वस्तुतः 'ब्रह्म-विचार' है, इसके अन्तर्गत केवल ब्रह्म के आत्मसाधन के सार का परिचय देकर उसे समझा दिया गया है।[३] इसी प्रकार, सिन्ध के सन्त कवि शाह अब्दुल लतीफ का कथन है कि 'जे तूं बैत भाई, से आय तूं आहिनि लियो मन लाइनि पिरियाँ संदे पारडै", अर्थात् जिन्हें तुम बैत (छन्द) समझते हो, वे कुरान की आयतों (उक्तियों) के समान हैं, जो हृदय को उस प्रियतम की ओर आकृष्ट करता है।

इस सम्बन्ध में यहाँ यह भी उल्लेखनीय है जिस रस-तत्त्व का काव्य के लिए, आवश्यक होना, काव्यशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार बतलाया जाता है।[४] उसके वास्तविक रूप की भी चर्चा, कतिपय सन्त कवियों द्वारा, की गई पाई जाती है। उदाहरण के लिए, मराठी के सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी 'गीता' वाली 'भावार्थदीपिका' व्याख्या की रचना करते समय, प्रसंगवश एक स्थल पर कहा है : "वाणी का उत्तम रूप उसमें कवित्व के आ जाने पर, दीख पड़ता है तथा कवित्व की भी श्रेष्ठता, उसमें रस-तत्त्व के पाये जाने पर ही सिद्ध होती कही जाती है। फिर भी, उस रस-तत्त्व (रसिकत्व) की भी उत्कृष्टता, इस बात पर ही निर्भर कहला सकती है कि उसमें परत्त्व वा परमात्मत्व के स्पर्श की अनुभूति भी है।[५] आदर्श काव्य के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि उसमें किसी शृंगार, हास्य, करुण जैसे साहित्यिक रस की निष्पत्ति हो जाती जान पड़ती है, प्रत्युत उसके द्वारा परमार्थतत्त्व के साक्षात्कार जैसा आनन्द भी अभिप्रेत होगा। इसी प्रकार, एक अन्य मराठी सन्त कवि एकनाथ की भी वह उक्ति इसी बात का समर्थन करती है, जहाँ उन्होंने कहा है कि उनकी पंक्ति 'ब्रह्मरस

---

१. कलि मँह कठिन बिवादी भाई।
   कानि संत की मानत नाहीं, मन आवै तस गाई।
   + + +
   करि के स्वांग पुजावत सबसें, नहिं विवेक करिजाई।
   बिज्ञानी ज्ञानी कविता में, नाम दीन बिसराई॥ (श० ७०)

२. पलटू पंडित सोई, है कलम हाथ नहिं लेय।
   बिनु कागद बिनु अच्छरे, बिनु मसि से लिखि देय॥ (बानी, पृ० ७८)।

३. तुम्ह जिनी जानी गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।
   केबल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥ (क० ग्रं०, पद ५, पृ० ८९)

४. काव्यं रसात्मकं वाक्यम्।—(सा० द०, प० १)

५. वाचें बरवें कवित्व। कवित्वीं बरवें रसिकत्व
   रसिकत्वीहि परतत्व स्पर्श जैसा। (ज्ञानेश्वरी, १८, ३४५)

की अनुभूतिवाले विलक्षण माधुर्य में शराबोर है।'[१] इसके सिवा सन्त समर्थ रामदास ने तो इसे, अपने ढंग से, इस रूप में भी बतलाया है कि, "कवित्व के लिए शब्द-सुमनों की एक ऐसी सुन्दर माला होनी चाहिए, जिसमें परिमल का काम देने के लिए उसका अर्थ यथेष्ट बन जाता हो तथा जिसके साथ सन्त-भ्रमरों की भीड़ उसके द्वारा शाश्वत आनन्द उपलब्ध करने के लिए, लगी रहा करती हो।"[२]

काव्यानन्द को स्वयं ब्रह्मानन्द का सहोदर कह डालने तक की प्रवृत्ति कुछ काव्य-शास्त्रियों में पाई जाती है, जिस सन्त कवियों का आदर्श काव्य के विषय में अपनी कोई वैसी धारणा बना लेना, कदाचित् अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। इनकी रचनाओं द्वारा यह स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि इन्हें कोरे काव्यशास्त्रीय रीति से प्रस्तुत किये गये 'काव्य' की रचना कभी अभीष्ट नहीं और ये केवल इतना ही चाहते जान पड़ते हैं कि इनकी स्वानुभूति, अर्थात् परमात्मतत्त्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही इनकी रचनाओं के माध्यम से की जा सके। इस प्रकार, ये किसी अनिर्वचनीय आनन्द का स्वाद न केवल ले सके, अपितु उनके द्वारा ये दूसरों को भी लाभान्वित कर सके। साथ-ही-साथ जैवधर्म, देहधर्म से ऊपर उठकर मनोधर्म के उदात्तीकरण द्वारा लौकिक धरातल पर अभिन्नतामूलक किसी आध्यात्मिक अनुभूति की प्रेरणा प्रदान कर सके।

इससे यह स्पष्ट है कि सन्त-काव्य की परख भरतवाली काव्य-परम्परा की कोटि की अपेक्षा उसकी पूर्ववर्त्ती अथर्ववेदवाली काव्य-परम्परा की कसौटी पर होनी चाहिए।

बलिया (उत्तर प्रदश)

---

१. हे जनार्दन कबिता बाड़ी। ब्रह्मरसे रसालगाढ़ी।
(एकनाथी भागवत, २९।१०३४)

२. कवित्व शब्द सुमन माला। अर्थ परिमल आगला।
तेणों संत षट्पद कुला। आनंद होये॥
(दासबोध, १४।३।१)
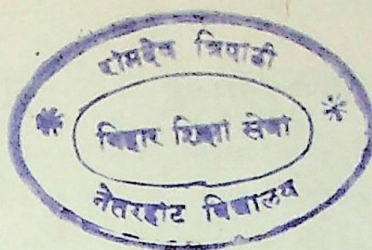
बिहार की प्राचीन प्रस्तर-कला में स्वामी कार्त्तिकेय

● श्रीचित्तरंजनप्रसाद सिन्हा

देवताओं के सेनापति कार्त्तिकेय को यौवन तथा शक्ति का प्रतीक कहा गया है। देश के उत्तरी भाग में ये स्वामी कार्त्तिकेय के नाम से तथा दक्षिणी भाग में सुब्रह्मण्यम् के नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि पंचायतनपूजा-पद्धति में सूर्य, विष्णु, शिव, गणेश एवं दुर्गा की पूजा का ही विशेष महत्त्व है, तथापि यह सत्य है कि इन देवों के सदृश स्कन्द कार्त्तिकेय की पूजा एवं महत्ता अति प्राचीन है। सुकुमार सेन[1] के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित कुमार परवर्त्ती वेदकालीन कुमार की प्रतिकृति ही है। सूत्रग्रन्थों में भी कार्त्तिकेय का उल्लेख हुआ है, परन्तु यहाँ इनके साथ शिव के सम्बन्ध की कोई चर्चा नहीं की गई है।[2] रामायण एवं महाभारत-काल से कार्त्तिकेय को शिव का पुत्र माना जाने लगा था। शिव-पार्वती के विवाह की कथा के सन्दर्भ में ही स्कन्द-जन्म की कथा का उल्लेख रामायण में हुआ है।[3] कार्त्तिकेय की मूर्त्ति एकमुख, चतुर्मुख तथा षण्मुख होती है। तदनुसार, भुजाओं की संख्या भी होती है। डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल[4] ने समरांगण के कार्त्तिकेय-लक्षण का इन शब्दों में वर्णन किया है: तरुण अर्क (सूर्य) के समान तेजस्वी, रक्ताम्बर, अग्नि की प्रभा के समान कान्तिमान्, ईषद्बालाकृति (कुमार), मनोज, मांगल्य, प्रियदर्शन, प्रसन्नवदन, चित्र-मुकुट-मण्डित, मुक्ता-मणि-हारांगोज्ज्वल, षडानन अथवा एकानन प्रदर्श्य है। षण्मुख कार्त्तिकेय की नागरी (Pertaining to a town) प्रतिमा में बारह भुजाएँ, खेटक में छह

---

१. इण्डो इरानिका, ४, पृ० २९।

२. डॉ० यदुवंशी : शैवमत, पृ० ६१।

३. स्कन्द कार्त्तिकेय-जन्म की बिभिन्न कथाओं के विस्तृत अध्ययन के लिए देखें, डॉ० यदुवंशी-कृत शैवमत, पृ० ६१, ६२, ७५, ७६, ७७, १२६, १२७ एवं कैलासनाथ कुरुकाल : ए स्टडी ऑब दि कार्त्तिकेय कल्ट ऐज रिफ्लेक्टेड इन दि एपिक्स ऐण्ड पुराण, युनिबर्सिटी ऑव सिलोन, रिमिउ, अंक २१, सं० २, १९६१, पृ० १३१; दिलीपकुमार बिश्बास : दी कौक मोटिब इन स्कन्द वर्सिप, जर्नल ऑव एन्सियेण्ट हिस्ट्री (कलकत्ता-विश्वविद्यालय), अंक १, पार्ट १-२, पृ० ९-१६; पृथ्वीकुमार. अग्रवाल : 'पुराणम्', अंक ८, संख्या १, जनवरी, १९६६ ई०; स्कन्द इन दि पुरान ऐण्ड क्लासिकल लिटरेचर, पृ० १३५, १५८; जे० एन्० बनर्जी : पौराणिक ऐण्ड तान्त्रिक रिलिजन, कार्त्तिकेय वर्सिप।

४. प्रतिमा-विज्ञान, पृ० २८२।

भुजाएँ और ग्राम (एकानन) में २ भुजाएँ चित्र्य हैं। हस्तायुधों में रोचिष्मती शक्ति प्रधान है। अन्य आयुधों में शर, खड्ग, भुसुण्डी और मुद्गर है (शक्ति दाहिने हाथ में होगी ही)। बायें ६ हाथों में धनु, पताका, घण्टा, खेट, कुक्कुट के साथ छठा सवंर्धन-मुद्रा में। डॉ० जनार्दन मिश्र के मतानुसार कार्त्तिकेय का षण्मुख छह ऋतुओं का तथा बारह हाथ बारह महीनों के प्रतीक हैं।[१] बृहत्संहिता, विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा शिल्पशास्त्रों में कार्त्तिकेय-लक्षण के जो लांछन—बर्हिकेतु, शक्तिधर आदि प्रतिपादित हैं, उनका बिहार से प्राप्त मूर्त्तियों में समन्वय दिखाई पड़ता है।

कुषाण-काल में गणेश की अपेक्षा कार्त्तिकेय की पूजा का प्रचलन अधिक था। कुषाणराजा हुविष्क के समय में मथुरा में स्कन्दपूजा का विशेष प्रभाव था। इनके सिक्कों के अनुशीलन से यह बात आसानी से समझी जा सकती है। हुविष्क के सिक्कों पर कात्तिकेय के अन्य नामों का भी, यथा कुमार, विशाख एवं स्कन्द का अंकन किया गया है।[२] यौधेय गण के सिक्कों पर षडानन कार्त्तिकेय का चित्रण हुआ है। महाभारत (सभापर्व) के अनुसार रोहतक कार्त्तिकेय की पूजा का प्रधान केन्द्र था तथा रोहतक एवं समीप के स्थानों से प्राप्त यौधेय गण के सिक्कों से भी इसकी पुष्टि होती है। डॉ० अग्रवाल[३] ने इनपर दो प्रकार की मूर्त्तियों का उल्लेख इसमें किया है। एक तो एक सिरवाली तथा अन्य छह सिरवाली है।

ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान से ही गुप्तकाल में हिन्दू-देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में बनने लगीं। इस काल में स्वामी कार्त्तिकेय की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी। कुमारगुप्त ने अनेक बिलकुल नये प्रकार के सिक्कों को प्रचलित किया था। उसकी कार्त्तिकेय-प्रकार की मुद्रा में उस देवता का आदर किया गया है, जिससे राजा का नामकरण कुमार हुआ। कार्त्तिकेय शायद गुप्तों के अथवा कुमारगुप्त के कुलदेवता थे। शनैः-शनैः कार्त्तिकेय की महिमा बढ़ती गई और वे इस काल में राष्ट्रीय देवता बन गये। गुप्त-काल में मोर पर सवार कार्त्तिकेय की मूर्त्ति को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कुमार गुप्त का मोरवाला सिक्का गुप्तकला का प्रतीक है। सिक्कों पर अंकित इस चिह्न की ओर भी कालिदास संकेत करते हैं। इस मुद्रा में कार्त्तिकेय, जो अपने वाहन मयूर पर विराजमान हैं, उसे देखकर कालिदास के 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' वाक्य का स्मरण आता है। कालिदास-कृत 'कुमारसम्भव' में कुमार या स्कन्द की महिमा का चरम उत्कर्ष पाया जाता है। यहाँ स्कन्द-जन्म की कथा अपने पूर्व-विकसित रूप में दिखाई देती है।

सातवीं शती के राजा आदित्यसेन के अपसढ़-शिलालेख में कार्त्तिकेय का

---

१. भारतीय प्रतीक-विद्या, पृ० १००।

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३६; महासेन के रूप में हुविष्क, एच्० के० देव का लेख, पृ० १५४।

३. मथुरा-कला, पृ० ७५।
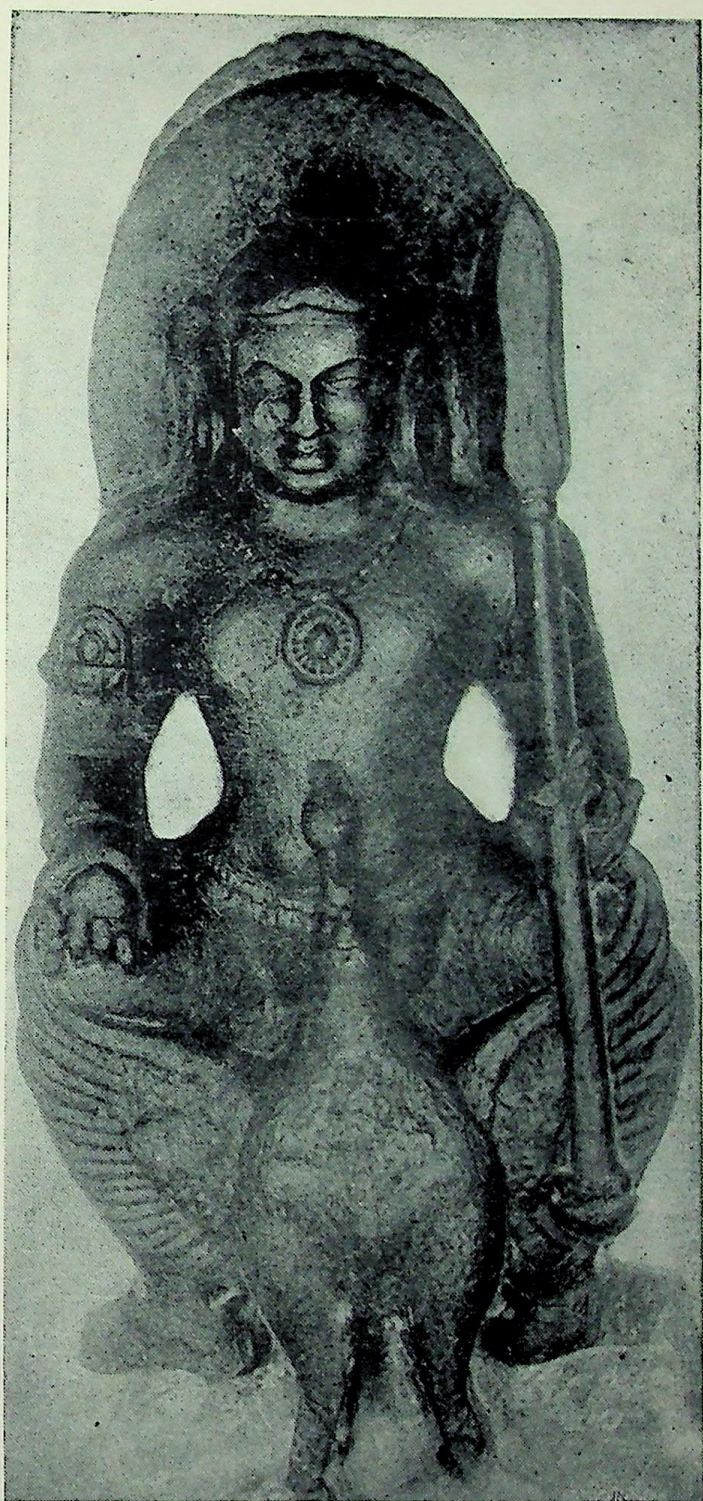
बसाढ़ (मुजफ्फरपुर) के हरिकटोरा-मन्दिर
के मयूरासीन कार्त्तिकेय
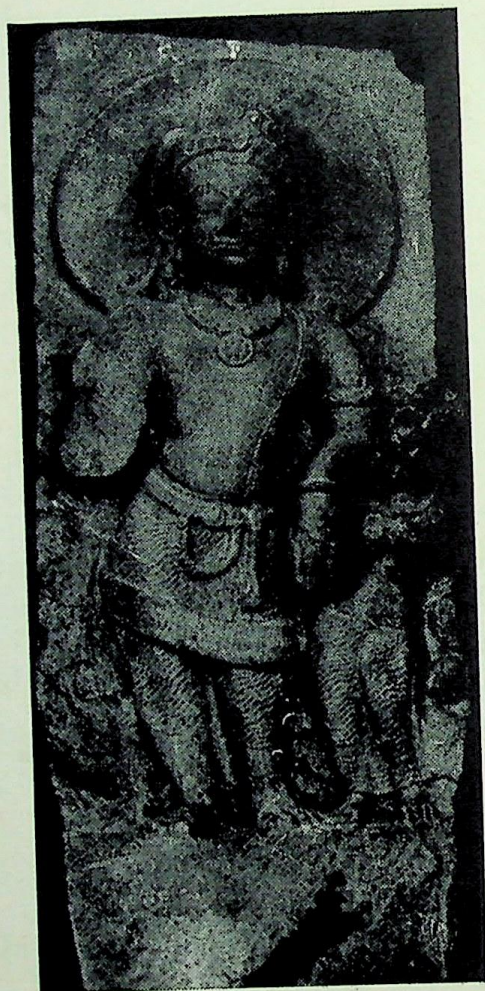
कार्त्तिकेयानी के साथ कार्त्तिकेय
(पटना-संग्रहालय, संख्या ६००६)

उल्लेख किया गया है तथा उन्हें शिव का वास्तविक पुत्र माना गया है।[१] बिहार पिलर-इन्सक्रिप्शन[२] में भी मातृकाओं के साथ कार्त्तिकेय की चर्चा की गई है।

बिहार में प्राप्त सभी कार्त्तिकेय-मूर्त्तियाँ गुप्त एवं परवर्त्ती गुप्तकाल की हैं। कुषाण या शुंगकाल की कोई भी प्रतिमा अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। गुप्तकाल से ही अन्य स्थानों की भाँति यहाँ से भी अनेक सुन्दर एवं भव्य मूर्त्तियाँ प्रकाश में आई हैं, जो गुप्तयुगीन भारतीय कला की सुदृढ एवं सुन्दर स्वरूप उपस्थित करती हैं।

बिहार के विभिन्न स्थानों से अबतक प्राप्त कार्त्तिकेय-प्रतिमाओं में पटना-संग्रहालय में सुरक्षित कार्त्तिकेय-मूर्त्तियाँ सुन्दर एवं भव्य हैं। पटना-संग्रहालय-संख्या ६००३ की मूर्त्ति में कार्त्तिकेय[३] मोर पर ललितासन में बैठे हैं। बायाँ पैर नीचे झूल रहा है और दाहिना मोर के गले में लिपटा आसन पर ही मुड़ा है। देवता के बायें हाथ में शक्ति है एवं एक दाहिना हाथ वरद मुद्रा में है। गले में बघनखा-युक्त एकावली दिखाई पड़ रही है। मुख पर सौम्य-भाव विराज रहा है। वाहन मोर भक्तिपूर्वक देवता को देखने की चेष्टा कर रहा है।

दूसरी मूर्त्ति (सं० ६००६) में कार्त्तिकेय[४] खड़े दिखाये गये हैं। दाहिना हाथ कुछ खण्डित है। इनके साथ बाईं ओर कार्त्तिकेयानी भी खड़ी हैं। उनकी भाव-भंगी मनोवेधक है। मूर्त्ति के पीछे गोलाकार प्रभामण्डल है। मुख से उनका अलौकिक तेज प्रकट होता है। शरीर का लावण्य और सुकुमारता निखर उठी है। समूची कृति में सन्तुलन का वह सौन्दर्य है, जो गुप्तकालीन कला का विशेष गुण है। बनावट एवं शैली में इस मूर्त्ति की तुलना यहीं से प्राप्त सूर्य[५] (संख्या ६०१५) एवं चण्डी (संख्या ६००५) की मूर्त्ति से की जा सकती है। इसी क्रम में सिंहभूमि जिले से प्राप्त एक अन्य कार्त्तिकेय[६] मूर्त्ति का उल्लेख अत्यन्त उपयुक्त होगा। यह मूर्त्ति रुखड़े पत्थर की बनी है तथा आजकल वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही के संग्रहालय में वर्त्तमान है। देवता के दो हाथ हैं। दाहिने हाथ में अस्त्र है, वाहन मोर भी उत्कीर्ण है। सम्भवतः, यह मूर्त्ति भी गुप्तकालीन है तथा बेनीसागर से मिली मानी जा सकती है।

राजौना नामक स्थान से कतिपय गुप्तकालीन स्तम्भों[७] का अवशेष मिला है। यह आजकल भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में सुरक्षित है। इन खम्भों पर अर्जुन के तप

---

१. कारपस इन्सक्रिप्शन्स इन्डिकेरम, भाग ३, प्लेट २८ क, पृ० २००।

२. वही, भाग ३, प्लेट ४९।

३. पटना म्यूजियम कैटलग ऑव एन्टिक्युटीज, पृ० ४८-४९, फलक ८।

४. चित्र-सं० १।

५. पटना म्यूजियम कैटलग ऑव एन्टिक्युटीज फलक ८।

६. ए कैटलग ऑव दि आर्क्योलॉजिकल रैलिक्स इन दि म्यूजियम ऑव वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, सं० (जी) १/१८१।

७. आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, १९११-१२, पृ० १६१।

करने, शिवजी का गंगा को ग्रहण करने आदि का दृश्य चित्रित किया गया है। उसी शिला-फलक में गणेश के साथ कार्त्तिकेय की भी मूर्त्तियाँ अनुपम ढंग से खोदी गई हैं।

मार्च, १९६९ ई० में मुण्डेश्वरी[१] (शाहाबाद) से कार्त्तिकेय की और दो मूर्त्तियाँ पटना-संग्रहालय में आई हैं।[२] अपनी कलात्मक विशेषताओं के कारण ये मूर्त्तियाँ संग्रहालय की अनुपम उपलब्धि हैं। दोनों मूर्त्तियाँ चैत्य-वातायन में अपने वाहन मयूर पर बैठी दिखाई गई हैं। देवता शक्ति को बायें हाथ से पकड़े दिखाये गये हैं। इनमें एक (चित्र सं० ३) अधिक कलात्मक है। वाहन मयूर का पिच्छ पीछे की ओर कलात्मक ढंग से फैला हुआ है, जो कार्त्तिकेय की मूर्त्ति के प्रभामण्डल का काम देता है। अंगों की बनावट में गुप्तकला की कोमलता एवं लावण्य की झलक है।

मध्यभारत के भुभरा[३] नामक स्थान से प्राप्त चैत्य-झरोखों से इन दो चैत्य-वातायनों का अत्यन्त साम्य है तथा ये उसी काल के प्रतीत होते हैं।

नालन्दा के पाषाण-मन्दिर की गच के चारों ओर करीब २११ चौखट लगे हैं। इन चौखटों को एक दूसरे से अलग करने के अभिप्राय से कलशपत्रों गुच्छों से सुशोभित मूठे स्तम्भ खड़े दिखाये गये हैं। यह गुप्तकला का विशेष लक्षण है। इनमें मकर, फूलपत्रों की बूटेदार नक्काशी के साथ शिव-पार्वती एवं कार्त्तिकेय के भी चित्र हैं। यहाँ की मूर्त्ति में दोभुजी कार्त्तिकेय[४] बायें हाथ में बरछी धारण किये खड़े हैं। दाहिने हाथ में फल लिये हैं। दाहिने कोने में मयूर चित्रित किया गया है। ऐसा लगता है कि मयूर फल पाने की कोशिश कर रहा है। इन मूर्त्तियों का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक है।

गुप्तकालीन कला-परम्परा की एक अन्य अत्यन्त प्रभावशाली भव्य एवं अद्वितीय कार्त्तिकेय की प्रतिमा बसाढ़ के हरिकेटोरा-मन्दिर में वर्त्तमान है।[५] यह मूर्त्ति काले पत्थर की बनी है। इसे डॉ० योगेन्द्रमिश्र[६] ने शायद काले पत्थर पर उत्कीर्ण होने के कारण पालकालीन माना है। परन्तु, उनके पालकालीन मानने का कोई औचित्य नहीं दिखाई पड़ता है। पालकाल में बिहार-बंगाल क्षेत्र में काले पत्थर का ही व्यवहार मूर्त्तियों को तरासने में किया गया था। किन्तु, इसका प्रारम्भ परवर्त्ती गुप्तकाल से ही हुआ था। अतः, केवल पत्थर से ही काल-विशेष का अनुमान नहीं किया जा सकता है।

इस मूर्त्ति में ये कलात्मक विशेषताएँ हैं : अलंकार की अत्यल्पता, अद्भुत भावोद्रेकता, लालित्य-शैली की सरलता, भाव-व्यंजना, स्वाभाविकता, गाम्भीर्य, रमणीयता, माधुर्य,

---

१. पटना-संग्रहालय में मुण्डेश्वरी (शाहाबाद) से मार्च, १९६९ ई० में करीब ४४ मूर्त्तियाँ (कुछ खण्डित भी) एवं अन्य वास्तु-अवशेष आये हैं, जिनमें कार्तिकेय, सूर्य, अग्नि, शिव-पार्वती, परशुराम, बलराम एवं प्रेमी-प्रेमिका की मूर्त्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

२. चित्र-संख्या २, ३।

३. आर० डी० बनर्जी, दी टेम्पुल ऑव शिव ऐट भुभरा मेमयर्स ऑव दि आर्क सं० ऑव इण्डिया, न० १६ (कलकत्ता १९२४)।

४. दी स्टोन टेम्पुल एट नालन्दा : कृष्णदेव एवं अग्रवाल, ज० यू० हि० सो०, अंक २३ (१-२), पृ० २०६।

५. चित्र-संख्या ४।

६. डॉ० योगेन्द्र मिश्र : ए गाइड टू वैशाली ऐण्ड वैशाली म्यूजियम, पृ० ४०।
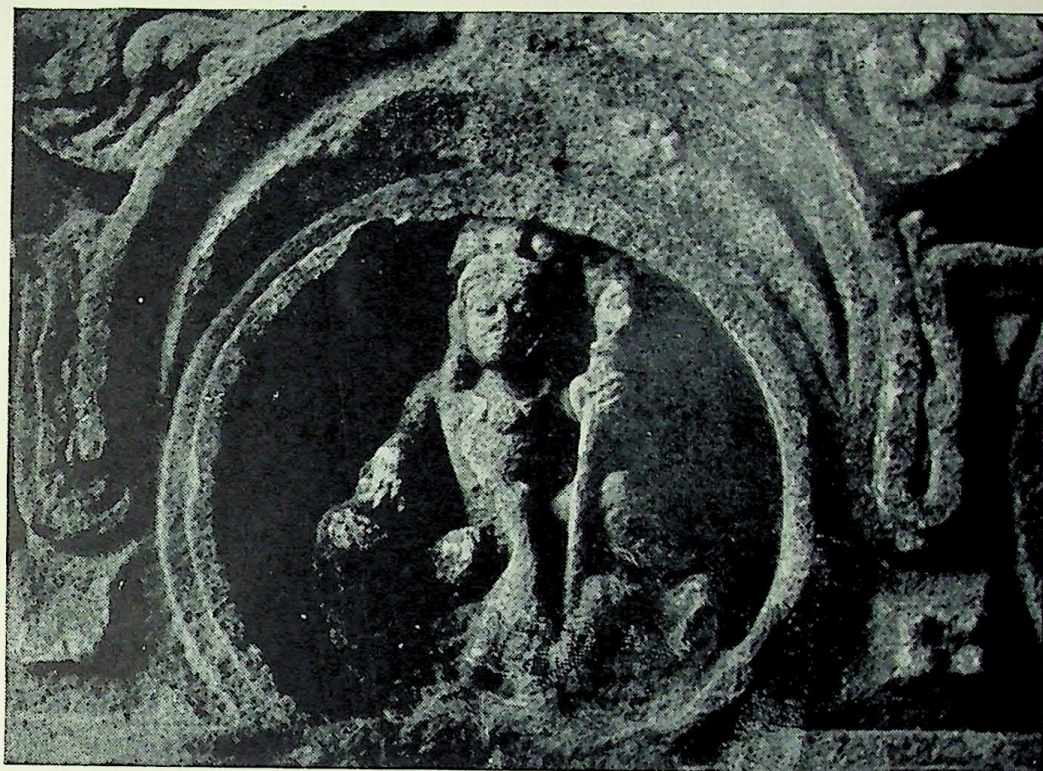
सिंहभूमि से प्राप्त कार्तिकेय-मूर्त्ति
(राजशाही संग्रहालय, बंगाल)
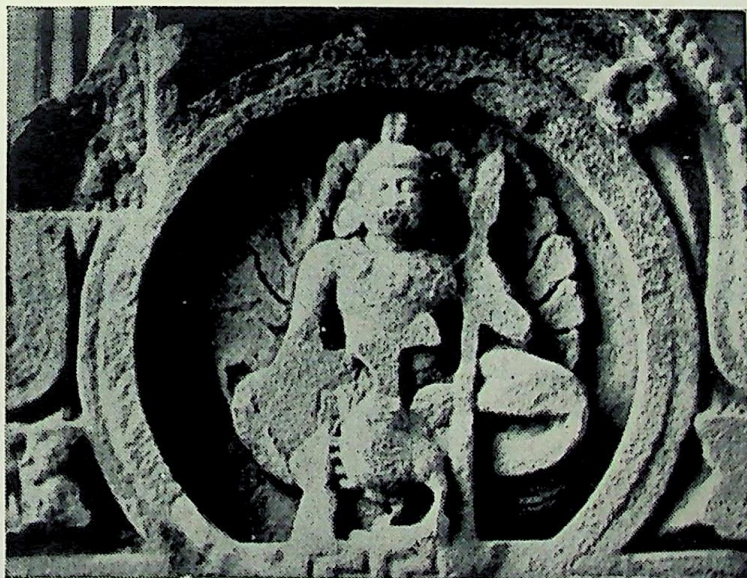
मुण्डेश्वरी (शाहाबाद) से प्राप्त
मयूरासीन कार्त्तिकेय (चित्र-संख्या ३)

अभिव्यक्ति की सादगी वा सजीवता और आध्यात्मिक अभिप्राय का प्राधान्य। ये सभी विशेषताएँ गुप्त कला-परम्परा में ही पाई जाती हैं।

कार्त्तिकेय-मूर्त्तियों में मयूर पर आसीन भारत कला-भवन, वाराणसी की कुमार कार्त्तिकेय[१] की मूर्त्ति अत्यन्त लोकप्रिय तथा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती रही है। किन्तु, उपर्युक्त मूर्त्ति के प्रकाश में जा जाने से इसे ही सर्वोच्च स्थान दिया जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। कुमार अपने वाहन मयूर पर केवल आसीन ही नहीं, वरन् सवारी करते दिखाये गये हैं। अन्य मूर्त्तियों में कार्त्तिकेय को मोर पर बैठे ही चित्रित किया गया है। इस दृष्टि से भी यह मूर्त्ति अद्वितीय है। इस प्रकार की सवारी करते हुए कार्त्तिकेय की दूसरी प्रतिमा लेखक की दृष्टि में नहीं आई है।

वाहन मयूर गरदन ऊपर किये शान से खड़ा है तथा संग्राम-प्रमाण के लिए प्रस्तुत है। इस मूर्त्ति के मुखमण्डल पर शान्ति, करुणा और आध्यात्मिक भाव का अपूर्व समिश्रण है, साथ ही एक स्वाभाविक स्थिति भी है। इनके वस्त्र की सलवटों की रेखाएँ बड़ी कलापूर्ण हैं। इस प्रकार की चुन्नट केवल गुप्तकाल की ही विशेषता है। देवता के कानों में कुण्डल हैं एवं गले में लॉकेट-युक्त एकावली वर्त्तमान है। इनकी एकावली एवं लॉकेट का निर्माण ठीक शाहाबाद से प्राप्त कार्त्तिकेय-मूर्त्ति (सं० ६००६) की एकावली एवं लॉकेट से मिलता-जुलता है। उनके बायें हाथ में बरछी तथा दाहिने में फल है। मुख के पीछे सादा, किन्तु सुन्दर प्रभामण्डल है, जो गोलाकार है। यह मूर्त्ति गुप्तकालीन बिहार के शिल्पियों की कला-पराकाष्ठा को प्रकट करती है।

डॉ० अग्रवाल[२] के मतानुसार गुप्तकाल के बाद कार्त्तिकेय-प्रतिमाओं का बनना लगभग बन्द हो गया। किन्तु, उनका यह विचार मध्यकालीन प्रतिमाओं को देखने से मान्य नहीं हो सकता है। उड़ीसा से कार्त्तिकेय की कई प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो गुप्तकाल के बाद की हैं। बिहार से कार्त्तिकेय की आरम्भिक पालकालीन एक प्रतिमा ज्ञात है, जो सम्प्रति पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है।[3] इसके अतिरिक्त, शिव-पार्वती के साथ कार्त्तिकेय की पालकालीन मूर्त्तियाँ बिहार से मिली हैं। इस प्रकार की एक मूर्त्ति में चतुर्भुजी पार्वती के बायें पैर पर कार्त्तिकेय बैठे हैं। इसमें पार्वती का वाहन सिंह है। पार्वती विविध आभूषणों से युक्त है। उनके ऊपर के दाहिने हाथ में कृपाण है एवं दूसरा वरद मुद्रा में है। एक बायें हाथ में पाश है तथा दूसरा वात्सल्यपूर्वक कार्त्तिकेय को पकड़े हुए है। यहाँ मातृभावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। बालक कार्त्तिकेय के दोनों पैर आसन से नीचे झूल रहे हैं।[४]

सप्तमातृकाओं में कुमारी का अंकन कुषाण-काल से ही होने लगा था। गुप्तकाल में तो उसके विशेष लक्षण—शक्ति और वाहन मयूर भी दिखाये जाने लगे।

---

१. रायकृष्ण दास : भारतीय मूर्त्तिकला, फलक १६।

२. मथुरा-कला, पृ० ७७।

३. पटना-संग्रहालय, सं० १५४।

४. डॉ० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिन्हा : भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० १३१, चित्र-संख्या १००।

कौमारी की भी मूर्त्तियाँ बिहार से प्राप्त हुई हैं। इनमें सरायकेला (सिंहभूमि) से प्राप्त कौमारी[१] मूर्त्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह सरायकेला से प्राप्त अन्य मातृका-मूर्त्तियों के साथ मिली थी। कौमारी मूर्त्ति के बायें एक शिशु है। दाहिने हाथ में त्रिशूलहै। प्रभामण्डल गोलाकार है। चौकी पर मोर भी दिखाया गया है। 'पटना म्यूजियम केटलग ऑव एण्टिक्यूटीज'[२] में इस मूर्त्ति को बारहवीं शती का बतलाया गया है। किन्तु, कलात्मक दृष्टि से यह उत्तर गुप्तकाल की मूर्त्ति मालूम पड़ती है। कौमारी की एक अन्य मूर्त्ति[३] भी सुरक्षित है। यद्यपि मूर्त्ति एवं उनका वाहन पूरी तरह सुरक्षित नहीं है, फिर भी यह उत्तर गुप्तकालीन कृति अवश्य है।

कार्त्तिकेय-शक्ति की अन्य मूर्त्ति[४] (पटना-संग्रहालय-संख्या १०३) कहलगाँव (भागलपुर) से भी मिली है। शक्ति वरद मुद्रा में खड़ी हैं तथा दाहिनी ओर झुकी हैं। बायाँ हाथ सीने तक उठा है। देवी के दाहिने पैर के समीप मोर भक्ति-भावना से खड़ा है। मुखपर पवित्रता और शान्ति व्याप्त है।

इन मूर्त्तियों के अध्ययन-अनुशीलन से यह बात कही जा सकती है कि प्राचीन काल से अबतक कार्त्तिकेय-पूजा की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। दक्षिण भारत में तो प्रत्येक स्थान पर सुब्रह्मण्यम् की मूर्त्ति प्रतिष्ठापित है तथा विशेष रूप से पूज्य है। उत्तर भारत में भी कई स्थानों पर शिव-मन्दिर के साथ कार्त्तिकेय की भी मूर्त्तियाँ स्थापित की गई हैं। बिहार में भी सुप्रसिद्ध वैद्यनाथ (देवघर)-मन्दिर और उसके चतुर्दिक् अन्य कई मन्दिर वर्त्तमान हैं। इनमें एक मन्दिर में स्वामी कार्त्तिकेय की मूर्त्ति है। पूना के पार्वती पहाड़ी पर भी कार्त्तिकेय-मन्दिर है।

इसके अतिरिक्त, दशहरा के अवसर पर बंगाल एवं बिहार में महिषमर्दिनी की पूजा विशेष धूमधाम से होती है। दुर्गा-प्रतिमा के एक ओर बुद्धि के प्रधान देवता गणेश और धन की देवी लक्ष्मी रहती हैं। दूसरी ओर ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और सैन्यबल के प्रतीक सेनापति कार्त्तिकेय की प्रतिमा बनी रहती है।

चैत्रमास शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि में भक्ति-भावना से स्वामी कार्त्तिकेय की जो पूजा करता है, उसे मयूरवाहन स्कन्दजी सन्तोष प्रदान करते हैं। कार्तिक मास की पूर्णिमा को कृत्तिका नक्षत्र के योग में कार्त्तिकेय का जो दर्शन करता है, वह सात जन्मों तक धन-धान्य से पूर्ण एवं वेदवेत्ता होता है।

पटना-संग्रहालय, पटना

---

१. चित्र-संख्या ५ (पटना-संग्रहालय-संख्या १०८१९)।
२. पृष्ठ-संख्या ९४।
३. चित्र-संख्या ६ (पटना-संग्रहालय-संख्या १०६४३)।
४. डॉ० बिन्ध्येश्वरीप्रसाद सिन्हा : भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० १३१, चित्र-संख्या १०१।

'विश्रान्ति' का शास्त्रीय अर्थ

● डॉ० जयशंकर त्रिपाठी

भरत के रससूत्र की व्याख्या में **अभिनवगुप्त** ने कई स्थलों पर 'विश्रयन्ति' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'विश्रान्ति' शब्द शैवागम से आया है और अपने में निश्चित अर्थ से ओतप्रोत है। इसके प्रयोग से रससूत्र का विश्लेषण अच्छी तरह प्रत्यक्ष हो जाता है। पर, इधर हिन्दी में संस्कृत-साहित्यशास्त्र की रस-विषयक जो चर्चाएँ हुई हैं, उनमें इसकी उपेक्षा की गई है और जहाँ प्रयोग हुआ है, वहाँ अर्थ की सुरक्षा कम हो पाई है। त्रैमासिक 'आलोचना' में प्रकाशित एक समीक्षा[१] को पढ़कर मेरा ध्यान 'विश्रान्ति' के अनर्गल अर्थ की ओर गया। यहाँ उसी सन्दर्भ में इस पारिभाषिक शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला जा रहा है।

'विश्रान्ति' संस्कृत का पारिभाषिक शब्द है। **अभिनवगुप्त** के उल्लेख के अनुसार 'विश्रान्ति' का प्रयोग उस अर्थ में किया जाता है, जिस अर्थ में बाद में रस का प्रयोग अभिमत हुआ। वे 'अभिनवभारती' में लिखते हैं :

अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकाललक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति। (भट्टनायक-मत)

तथा हि लोके सकलविघ्ननिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार-निर्वेश-रसन आस्वादन-भोग-समापत्ति-लय विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। (अभिनव-मत)

प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्। रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्।

पहले और तीसरे उद्धरण में 'विश्रान्ति' का सम्बन्ध संवित् से है। १. 'निज-संविद्-विश्रान्ति-लक्षणेन', अर्थात् अपने निज के साक्षात्कार (दर्शन) में विश्रान्ति-रूप। ३. 'आरोपितस्य प्रतिभा-संविद्-विश्रान्ति-वैकल्येन', अर्थात् आरोपित प्रतिभानात्मक संविद् (जिनके साक्षात्कार) में विश्रान्ति का अभाव होने से। 'स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्', अर्थात् अपने स्वरूप में 'विश्रान्ति' का अभाव होने से।

संवित्ति शब्द सामान्यतया जीव की वासना या संस्कार का अर्थ देता है। थोड़ा आगे बढ़कर उसका अर्थ जीव की विराट् प्रकृति भी है और उसके मूल की साक्षात्कारात्मक वृत्ति रस की चर्वणा का स्वरूप है। क्योंकि, अभिनवगुप्त कहते हैं :

---

१. जुलाई-सितम्बर, १९६९ ई० के अंक में प्रकाशित डॉ० जगदीश गुप्त की पुस्तक 'नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ' की समीक्षा।—सं०

अलौकिक-निर्विघ्न-संवेदनात्मक-चर्वणा-गोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणैकसारो, न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः। (अभिनव-मत)

अभिनवगुप्त के इसी मत को उनके शिष्य क्षेमराज ने और भी स्पष्ट करके कहा है : **पूर्णस्फुरत्तासतत्त्वप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्।** (शिवसूत्रविमर्शिनी, २।१) ये सभी शब्द शैवागम में निरूपित हुए हैं और इनको भरत के नाट्य-रसतत्त्व के व्याख्यान में ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया गया है।

इन सन्दर्भों में हम 'विश्रान्ति' के अर्थ की परख करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय साहित्यशास्त्र के आचार्यों का इस शब्द के प्रयोग में अभीष्ट क्या था ? ऊपर के सन्दर्भों में शब्दों का 'विश्रान्ति' के साथ अन्वय का प्रकार यह है :

१. सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिज की संविद् में विश्रान्ति।

२. सभी विघ्नों से निर्मुक्त संवित्ति ही 'विश्रान्ति' आदि शब्दों से अभिहित की जाती है।

३. आरोपित साक्षात्कारात्मक, प्रतिभानात्मक संविद् में 'विश्रान्ति' का अभाव रहता है।

इन अन्वयों में विश्रान्ति का अर्थ बहुत कुछ अपने को उघारकर रख देता है। नीचे **आचार्य उत्पलदेव** (१०वीं शती) की कारिका उद्धृत की जाती है, जिसका उल्लेख **क्षेमराज** (११वीं शती) के 'शिवसूत्रविमर्शिनी' ग्रन्थ में हुआ है। ग्रन्थ के कुछ अंश और कारिका का भाग इस प्रकार है :

अतएव प्रत्याहारयुक्त्या अनुत्तरानाहताभ्यामेव शिवशक्तिभ्यां गर्भीकृतम् एतदात्मकमेव विश्वम् इति महामन्त्रवीर्यात्मनोऽहं विमर्शस्य तत्त्वम्। यथोक्तमस्मत्परमेष्ठिश्रीमदुत्पलदेवपादैः।

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्त्तिता।
उक्ता सैव च विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्त्तृत्व मुख्यमीश्वरतापि च। इति।

तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्त्वं तदेव ककार-सकारप्रत्याहारेण अनुत्तरविसर्गसंघट्टसारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते, इत्यलं रहस्यप्रकटनेन। एवंविधया:......न विद्या मातृकापरा। इत्याम्नायसूचितप्रभावाया मातृकाया सम्बन्धिनश्चक्रस्य प्रोक्तानुत्तरानन्देच्छादिशक्तिसमूहस्य चिदानन्दघनस्वरूपसमावेशमयः सम्यक् बोधो भवति। एतच्चेह दिङ्मात्रेणोट्टङ्कितम्।

क्षेमराज के उक्त कथन के ये निष्कर्ष निकलते हैं :

१. अहं की निर्विघ्न सत्ता 'विश्रान्ति' है—**प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्त्तितः।** इसकी सत्ता का स्वरूप-बोध कर्त्तृत्वभाव, स्वातन्त्र्य-भाव और ईश्वरता की भावना है।

२. यह 'अहंविमर्श' उस परम आनन्द की प्रथम कला है, जिसको ब्रह्मानन्द में लय हो जाना कहा जाता है। क्षेमराज ने उक्त प्रसंग के पूर्व 'मातृकाचक्रसम्बोधः' (२।७) सूत्र के वृत्ति-व्याख्यान में कहा है :

अहंविमर्शप्रथमकला अनुत्तराकुलस्वरूपा प्रसरन्ती आनन्दस्वरूपा सती इच्छेशन-भूमिकाभासनपुरःसरम्।' इस प्रकार, 'विश्रान्ति' भी ब्रह्मानन्द में लय होने की पूर्व दशा है। वही नहीं है।

३. शिव और शक्ति से गर्भीकृत विश्व ही मातृकाचक्रसम्बोध (अ से स वर्णमात्रा-पर्यन्त) का महामन्त्र वीर्यात्मस्वरूप 'अहंविमर्श' का तत्त्व है। इस तत्त्व की उपलब्धि के साथ ही आनन्देच्छाशक्ति समूहचिदानन्दघनस्वरूप समावेश का बोध उपस्थित होता है। अतः, 'विश्रान्ति' की निर्मल उपलब्धि और चिदानन्दघन में लय की स्थिति परस्पर पूर्व और पश्चात् के क्रम में हैं।

रससूत्र की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने 'विश्रान्ति' का पारिभाषिक प्रयोग कई बार किया है और उसको संवित्ति के साथ अन्वित किया है। संवित्ति (साक्षात्कार) 'में' या 'की' विश्रान्ति का अर्थ 'अहंविमर्श' का ही व्याख्यान है। संवित्ति की, निज के साक्षात्कार की उत्कृष्ट अवस्था 'अहंविमर्श' का परमतत्त्व है। संवित्ति या संवेदन की ऐसी ही व्याख्या क्षेमराज देते हैं :

पूर्णस्फुरत्तासतत्त्वप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्।

जब ऐसी संवित्ति सभी विघ्नों से निर्मुक्त होकर लोकजन को भी अधिव्यक्ति होती है, तब वही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से अभिहित होती है। ये सभी शब्द रसास्वादन के पर्याय हैं। यहाँ 'लय' और 'विश्रान्ति' दोनों शब्द पर्याय हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। वरंच, लोक में रसास्वादन के लिए इन संज्ञाओं का प्रयोग मर्मज्ञ करते थे, यह अभिनवगुप्त का मत है। उनकी दृष्टि में परमानन्द में लय की स्थिति से रसचर्वणा की स्थिति भिन्न है। उनकी व्याख्या के दो वक्तव्य इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य हैं :

१. भट्टनायक के मत में इस रस के आस्वाद को परब्रह्मास्वाद के समान भोगक्रिया-वाला कहा गया है :

सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

२. रस के बिना कोई भी अर्थ प्रवर्त्तित नहीं होता और भावों से रस की अभिव्यक्ति होती है—इन दोनों विरोधी कथनों का समाधान करते हुए उस प्रसंग में **अभिनवगुप्त** ने यह विचार प्रकट किया कि—**तेन रसमयमेव विश्वम्।** अर्थात्, जगत् ही रस-रूप है। जगत् और रस के इस रूपक को उन्होंने थोड़ा विस्तार से समझाया है : **ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिक-रसास्वादः तेन रसमयमेव विश्वम्।**

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि रसास्वाद ब्रह्मास्वाद का ही दूसरा नाम नहीं है, उसके समान है, अन्यत्र भी आचार्य 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहते हैं। अतः, यह ब्रह्मानन्द में लय होने की स्थिति से भिन्न स्थिति है। **अभिनवगुप्त** ने भी विश्व से अन्यत्र रसमयता नहीं देखी है : **तेन रसमेव विश्वम्**। परमानन्द में लय होने की दशा विश्व से भिन्न है। **क्षेमराज** ने भी जिस अहम्भाव को विश्रान्ति कहा है। उस 'अहंविमर्श' के तत्त्व-रूप में शिवशक्ति के द्वारा गर्भीकृत विश्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। यह विश्व अनादि सृष्टि का भी बोधक है, यहाँ भी हो सकता है; किन्तु जैसा कि **अभिनवगुप्त** का रसमय विश्व अभिनय-व्यापार, सामाजिक तथा काव्यवृक्ष तक ही सीमित है, **क्षेमराज** का विश्व भी मानव-दृष्टि से परे नहीं है। अतः, अहंविमर्श और रसमय विश्व का व्याख्यान समान है। परमानन्द में लय का विश्व तो योगी की अर्न्तदृष्टि को ही प्रत्यक्ष होगा।

डॉ० गुप्त का कहना है कि 'विश्रान्ति' और 'लय' परस्पर अर्थ की भिन्न कोटियाँ रखते हैं। भले ही उनकी अर्थवस्तु एक दिशा की ओर ही उन्मुख हो, अर्थात् कला के आस्वाद का परिणाम हो। 'विश्रान्ति' और 'आनन्द' में इतना भेद है कि शैवकला-दृष्टि ने एक स्तर पर विश्रान्ति उत्पन्न करनेवाली कला को कला ही नहीं माना, केवल उसी को पराकला बताया, जो आत्मा को परमानन्द में लीन कर दे (नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृ० १४०)। गुप्तजी ने 'विश्रान्ति' शब्द का प्रयोग यहाँ बहुत सँभालकर किया है। उनकी पारिभाषिक सत्ता सुरक्षित है। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि वे उसकी पूर्ण पारिभाषिक संजीवनी से परिचित नहीं है। परिचित न होते हुए भी उसकी सम्भावना बना रखी है। समीक्षा करनेवाले सज्जन ने, जो इस बात से पूर्णतया अपरिचित हैं कि 'विश्रान्ति' साहित्यशास्त्र का इना-गिना पारिभाषिक शब्द है, इसका अर्थ उस कारिका में ध्येय बताते हैं तथा गुप्तजी के द्वारा प्रयुक्त 'विश्रान्ति' शब्द का अँगरेजी-पर्याय 'रिपोज' देते हैं। पर, यह साधारणतया प्रयुक्त 'विश्रान्ति' का पर्याय हो सकता है, न कि उक्त सन्दर्भों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द 'विश्रान्ति' का।

डॉ० गुप्त सौन्दर्य-चेतना का योजक तत्त्व भी 'विश्रान्ति' को मानना चाहते हैं। 'अभिनवभारती' के उल्लेख के अनुसार 'विश्रान्ति' रसास्वाद का पर्याय तो है, पर उसका अन्वय संवित्ति के साथ ही दिखाई पड़ता है। **अभिनवगुप्त** को रसास्वाद की स्थिति परब्रह्मास्वाद के समान ही, अर्थात् उसके निकट स्वीकार है, वही नहीं है, उनके उल्लेखों से उनके मत में 'विश्रान्ति' रसास्वाद के निकट स्थित है, अर्थात् रस से भिन्न है। संवित्ति-साक्षात्कार की स्थिति ही 'विश्रान्ति' है। आस्वादन-अनुभव रस है। दोनों ही काव्यार्थ हैं :

संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यः परसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥

पर, ऐसे भी सम्प्रदाय थे, जो दोनों को एक मानते थे। अभिनवगुप्त दोनों की स्थिति में अन्तर स्वीकार करते हैं। अन्यत्र भी वे लिखते हैं :

१. **अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद् विश्राम्यति**। अप्रधान वस्तु में किसकी संविद् (साक्षात्कारात्मक अनुभूति) स्थिर होगी। अर्थात्, वहाँ 'विश्रान्ति' नहीं होगी।

२. **एकघनशोकसविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्ति**। निर्भर शोक के साक्षात्कारात्मक अनुभूति—आस्वादन में भी सुकुमारहृदय स्त्रीजनों के मन को विश्रान्ति मिलती है।

३. संविच्चर्वणा तो 'विश्रान्ति' है और इस चर्वणा में प्रत्यक्ष होता अर्थ जो स्थायी से विलक्षण है, वह रस है: **अलौकिकनिर्विघ्नसवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारः स्थायिविलक्षण एव रसः**।

इस प्रकार, अभिनवगुप्त के मत में संविद् तथा रस के बीच 'विश्रान्ति' की स्थिति आती है और डॉ० जगदीश गुप्त का उसे योजक तत्त्व कहना असंगत नहीं प्रतीत होता।

७३, छोटी बासुकी
दारागंज, इलाहाबाद

दैत्य, देव तथा मानव

डॉ० रामदेव त्रिपाठी

लाखों अथवा हजारों वर्ष पहले भारत के उत्तर-पश्चिम में, सप्तसिन्धु-प्रदेश में, एक अतिशक्तिशाली जाति वास करती थी। इसे उस समय असुर तथा देव कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आज की समस्त मानव-जातियों तथा संस्कृतियों के पूर्वज ये ही थे। असुर संस्कृत शब्द है, इसका अर्थ है परास्त करनेवाला—युद्ध में शत्रुओं को पराजित करनेवाला। क्षेपणार्थक अस् धातु से इसकी निष्पत्ति हुई है (अस् + उर)। सत्तार्थक अस् धातु से इसकी निष्पत्ति करने पर असुर का अर्थ सत्ताशाली भी हो सकता है, अर्थात् जो जीवन-संघर्ष में नष्ट न हो, स्थिर रह जाय। देव शब्द दिव् धातु से बना है, जिसके अर्थ हैं, प्रसन्न रहना, जीवन को क्रीडामात्र समझना, विजय की कामना करना, स्तुति करना, गतिशील होना, चमकना इत्यादि। यह समस्त जाति उस समय पृथ्वी पर शक्ति और संस्कृति-सभ्यता में अग्रणी थी।

वेदों में देवराज इन्द्र[1], देवों के पुरोहित तथा मुख अग्नि[2] इन्द्र के समान ही

---

१. त्वं राजेन्द्र मे च देवाः रक्षा नॄन् पाहि असुर त्वमस्मान्।
सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः॥—ऋग्वेद, मं० १, सं० १७४, मंत्र १।

२. त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवः।—ऋ०, मं० २, सू० १, मन्त्र ६।

प्रभावशाली वरुण[१] तथा विष्णुस्वरूप सविता[२] भी असुर शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। एक मन्त्र तो यहाँतक घोषित करता है कि सब देवों की महान् असुरता[३] (शक्ति) एक (अविभाज्य) है। इसके विपरीत असुरों को कोषकारों[४] ने 'पूर्वदेव' नाम दिया है, अर्थात् असुर भी पहले देव कहे जाते थे। इससे तो यही प्रतीत होता है कि देव और असुर पर्यायवाची की भाँति थे, दोनों नाम एक ही जाति के थे।[५] वेदों में इन्द्र के परमशत्रु असुरराज वृत्र को भी देव कहा गया है। किन्तु, वेदों में अनेक मन्त्रों में इन्द्र आदि देवों को असुरघाती भी बताया गया है; जैसे असुरस्य वीरान् यथा जघन्थ,[६] असुरघ्नः[७], असुरघ्ने[८] आदि। इससे यह अनुमान होता है कि देवों और असुरों में वैर था, देव असुरों के वध में अपना गौरव मानते थे। इसका क्या रहस्य है?

बृहदारण्यक[९] इसका स्पष्टीकरण यों करता है कि प्रजापति की ही सन्तानों में दो शाखाएँ हुईं, छोटे भाई देव कहलाये और बड़े भाई असुर। दोनों में पैतृक सम्पत्ति-रूप त्रिलोक के बँटवारे के लिए संघर्ष हुआ, सम्प्रभुता अथवा वरीयता के लिए स्पर्द्धा हुई। महाभारत में यह घटना और विस्तार से वर्णित है। शान्तिपर्व में व्यास युधिष्ठिर को बताते हैं कि (जिस प्रकार तुमलोगों में, ज्येष्ठ सन्तान पाण्डवों तथा कनिष्ठ सन्तान कौरवों में आज राजलक्ष्मी के लिए संघर्ष हो रहा है, उसी प्रकार) पहले बड़े भाई असुरों तथा छोटे भाई देवों में लक्ष्मी के लिए महान् संघर्ष[१०] हुआ। यह देवासुर-युद्ध बत्तीस हजार वर्षों तक चलता रहा, जिसमें देवों ने भूमण्डल को रक्त का समुद्र बना डाला तथा असुरों को मारकर स्वर्गलोक पर अधिकार कर लिया। जो धर्म का उच्छेद कर देना चाहते हैं, अधर्म के प्रवर्त्तक हैं, वे दुरात्मा उसी प्रकार मार डालने योग्य हैं, जिस प्रकार देवों ने उग्र (आततायी) दैत्यों को मारा था। यदि परिवार (कुल) में एक व्यक्ति को मारने से शेष व्यक्तियों का, राष्ट्र में एक परिवार (कुल) को नष्ट कर देने से शेष परिवारों

---

१. क्षयन्नस्मभ्यमसुर।—ऋ० १।२४।१४।

२. विसुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः।

(क) क्वस्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेतकतमां द्यां रश्मिरस्या ततान।—ऋ० १।३५।७।

(ख) हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः।—ऋ० १।३५।१०।

३. महद् देवानामसुरत्वमेकम्। — ऋ० ३।५५।१४।

४. शुक्रशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः।—अमरकोष, स्वर्गवर्ग।

५. अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन् देव एकः।—ऋ० १।३२।१२।

६. ऋ०, २।३०।४।

७. ६।२२।४।

८. ७।१३।१।

९. द्वया ह प्राजापत्याः देवाश्चासुराश्च, ततः कानीयसा एव देवाः, ज्यायसा असुराः, त एषु लोकेषु अस्पर्धन्तः। (१।३।१)

१०. अमरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः।
तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत् समुच्छ्रयः॥

का तथा विश्व में एक राष्ट्र का उच्छेद कर देने से शेष राष्ट्रों का उपद्रव दूर हो जाता हो, तो इसमें औचित्य का उल्लंघन नहीं होता ।[१]

ब्रह्मा के मानसपुत्र, सप्तर्षियों[२] में अन्यतम मरीचि के पुत्र का नाम कश्यप था। दक्ष ने, जो ब्रह्मा के ही दूसरे मानसपुत्र थे, तथा अपनी तपस्या से प्रजापति भी बने थे, अपनी तेरह कन्याओं का विवाह कश्यप से कर दिया । इनमें सबसे जेठी दिति थी। कश्यप को दिति से हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, मय इत्यादि अनेक विख्यात पराक्रमी पुत्र हुए। दिति के पुत्र होने से ये दैत्य कहलाये । छोटी बहन अदिति से कश्यप को बारह पुत्र हुए— धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु । ये अदिति के पुत्र होने से आदित्य कहलाये । तीसरी बहन दनु से भी उन्हें विप्रचित्ति, नमुचि, पुलोमा, वृषपर्वा आदि दुर्द्धर्ष पराक्रमी पुत्र हुए, जो दानव या दनुज कहलाये । ये सब दैत्यों के कट्टर समर्थक होकर क्रमशः उनसे अभिन्न हो गये । पहले ये सब यथाप्रसंग देव या असुर समान रूप से कहलाते थे । धीरे-धीरे देव शब्द आदित्यों[३] के लिए तथा असुर शब्द दैत्यों[४] और दानवों के लिए रूढ हो गया ।

मुनि, प्राधा तथा कपिला की सन्तान गन्धर्व, अप्सरा और यक्ष कहलाये, जो सर्वथा देवों के अनुगत होकर देवयोनि में अन्तर्भूत हुए । काला के लड़के कालकेय राक्षस हुए । ये पहले तो देवयोनि में ही गिने गये, किन्तु क्रमशः असुरों के समर्थक होकर उनसे भी अधिक कट्टर देवद्वेषी बन बैठे । । सिंहिका, क्रूरा, दनायु के लड़के आरम्भ से ही असुर-समर्थक हुए । विनता के पुत्र वैनतेय हुए । इनमें गरुड विष्णु के अनुगत हुए तथा अरुण विवस्वान् के । कद्रू के लड़के नाग कहलाये । इनके अधिपति शेष ने भी विष्णु का ही

युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत् किल ।
एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम् ॥
जघ्नुर्देवास्तथा दैत्यास्त्रिदिवं चापि लेभिरे ।
....
धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो ये धर्मस्य प्रवर्त्तकाः ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥

१. एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम् ।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद् वृत्तोपघातकम् ॥—शान्तिपर्व, अध्याय ३३ ।

२. मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यः क्रतुरङ्गिराः ।
वसिष्ठश्च महाभागो ब्रह्मणो मानसाः सुताः ॥—अमरकोष ।

३. अमरा निर्जरा देवाः त्रिदशा विबुधा सुराः ।
सुपर्वाणः सुमनसः त्रिदिवेशाः दिवौकसः ।
आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः ॥ (अमरकोष, स्वर्गवर्ग ७, ८) ।

४. असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः । —अमरकोष, स्वर्गवर्ग, १२ ।

आश्रय लिया, किन्तु शेष सभी नाग दैत्यों में जा मिले, यद्यपि उनके एक नेता तक्षक ने इन्द्र से गुप्त सन्धि कर ली । देवयोनियों में विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, गुह्यक और सिद्ध देवों की ओर रहे; राक्षस, पिशाच और भूतों ने असुरों का पक्ष लिया ।

इस प्रकार, कश्यप के ये पुत्र परस्पर बन्धु और दायाद ही थे, परन्तु सौतेले भाई होने के कारण इनमें पैतृक सम्पत्ति के रूप में तीनों लोकों का स्वामित्व प्राप्त करने के लिए दीर्घकालव्यापी महान् संघर्ष हुआ । आरम्भ में ज्येष्ठ[1] होने के कारण दैत्यों का ही जंगलों और समुद्र-सहित सारी पृथ्वी पर अधिकार था । किन्तु, क्रमशः उनका अपने अनुजों देवों से वैमनस्य, संघर्ष बढ़ता गया । त्रिभुवन के स्वामित्व के बँटवारे के लिए दोनों दलों में भयंकर युद्ध के परिणामस्वरूप पृथ्वी रक्तमयी हो गई, जिसमें आरम्भ में तो असुर ही विजय पाते गये, परन्तु अन्तिम विजय देवों की हुई, जिससे सर्वोत्तम लोक स्वर्ग पर उनका एकाधिकार हो गया ।

वैसे असुर देवों की तुलना में शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त माया, जादू, युद्धकौशल, छल-कपट आदि में भी बढ़े-चढ़े थे, परन्तु सबसे छोटे आदित्य विष्णु छल-कपट में भी असुरों के कान काटते थे । उन्हीं के परामर्श तथा सहायता से इन्द्र असुरों को पराजित कर स्वर्ग के अधिपति बने थे । ऐतरेय ब्राह्मण में कथा आई है कि प्रारम्भ में दैत्यों ने देवों को सब दिशाओं में पराजित कर दिया था, किन्तु उत्तर-पूर्व दिशा में देवों ने उनका जमकर प्रतिरोध किया और वहाँ के असुरों से पराजित नहीं हो सके । इसीलिए, इस दिशा का नाम ही अपराजिता[2] पड़ गया । देवों ने उत्तर-पूर्व में ठीक से जमकर वहाँ से असुरों को शेष सारी दिशाओं में खदेड़ दिया । इस प्रकार, देवगण ने अपने लिए उत्तर-पूर्व को सुरक्षित रखा, और असुर शेष स्थानों में फैल गये । इस उत्तर-पूर्व दिशा का केन्द्र वर्त्तमान कश्मीर था, जो देवभाषा के शुद्ध नाम 'कश्यपमेरु' का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है । जैसा कि अभी बताया गया है, 'कश्यप' देवों असुरों के मूल पुरुष का नाम था, और मेरु का अर्थ है शिखर, उच्चभाग । कश्यपमेरु ही उस समय उत्तर-पूर्व की भूमि अथवा उपत्यका का सर्वोच्च समतल भाग था । जबकि विश्वप्रसिद्ध जल-प्रलय में सम्पूर्ण यूरेशिया पानी में डूब रहा था, देवों ने इस मेरु को ही अपना आवास बनाया था । इस जल-प्रलय का वर्णन प्रायः समान रूप से सब धर्मों के पवित्र मूलग्रन्थों में पाया जाता है । इस मेरु की उत्कृष्टता के कारण ही इसे प्रमेरु कहने लगे होंगे, जिसका विकृत रूप 'पामीर' हो गया है । आज भी पामीर का प्लेटो सर्वोच्च होने के कारण 'दुनिया की छत' कहा जाता है । यह पामीर कश्मीर के अति निकट ही है । तिब्बत भी कश्मीर के पास ही है, जो संस्कृत में स्वर्ग के पर्याय 'त्रिविष्टप' का ही अपभ्रंश है । यह त्रिविष्टिप ही देवों का स्वर्ग या आनन्दभूमि था । हिमालय की अधित्यका के इस भाग में ही देवाधिदेव शंकर की वासभूमि कैलास, देवराज इन्द्र की अमरावती तथा शंकर के सखा यक्षराज कुबेर की अलकापुरी अवस्थित थे ।

---

१. दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः ।
तेषामियं वसुमती पुरासीत् स बनार्णवा ।।—रामायण, अरण्यकाण्ड, १४।१६ ।

२. ते उदीच्यां प्राच्याम् अयतन्त, ते ततो न पराजयन्त, सैषा दिग् अपराजिता ।—ऐ० ब्रा०, ३।३ ।

यह धारणा भ्रान्त है कि दैत्य या असुरजन केवल पापी और दुष्ट तथा सब प्रकार के धर्मकार्यों से विरत थे । तथ्य यह है कि धर्म या औचित्य के विषय में उनकी अपनी एक स्वतन्त्र दृष्टि थी, जो देवों के सिद्धान्त से मेल नहीं खाती थी । असुरों का भी धर्म में विश्वास था, वे भी विभिन्न यज्ञ करते थे, यज्ञकार्य का नेतृत्व करने के लिए पुरोहित रखते थे, वे केवल देवों के ही धर्मकार्य में अथवा मानवों की देवपूजा में विघ्न डालते थे । जितने भी प्रतापी असुर हुए, वे सभी कठोर तपस्या से ब्रह्मा अथवा शंकर की आराधना कर उनसे वरदान तथा प्रबल अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करके ही । उन्हें द्वेष था तो केवल देवराज इन्द्र से ही । महाभारत में स्वयं युधिष्ठिर जटासुर के समक्ष स्वीकार करते हैं[1] कि धर्म की कल्पना के उत्स राक्षस ही थे, राक्षसों को धर्म का पूरा ज्ञान था । संस्कृत-कोषों में राक्षस का एक पर्याय 'पुण्यजन' शब्द मिलता है ।[2] सम्भव है, ये पहले पुण्य करनेवाले रहे हों, बाद में देवों के द्वेष से इनका सिद्धान्त विकृत हो गया हो । यह प्रसिद्ध है कि हिरण्याक्ष के प्रपौत्र बलि ने एक महान् यज्ञ किया था, जिसमें जो भी कोई याचक आता, उसकी माँग पूरी की जाती । उस यज्ञ में ही जाकर विष्णु ने छल से वामन बन तीन डग भूमि माँगी । बलि के पुरोहित शुक्राचार्य ने विष्णु को पहचान लिया, उनकी दुरभिसन्धि भाँप ली, बलि को सचेत भी कर दिया, पर बलि अपने सत्य से नहीं डिगा । उसने विष्णु-रूपी वामन को तीन डग भूमि में त्रिलोक का राज्य दे ही दिया । राक्षस मेघनाद किसी भी युद्ध के पूर्व निकुम्भिला में यज्ञ करके ही शक्ति प्राप्त करता था, बल्कि उसके ही यज्ञ में लक्ष्मण ने विघ्न डाला था । इस प्रकार, असुरों—राक्षसों में भी यज्ञ, कर्मकाण्ड, दान, सत्य, भक्ति आदि का समादर था ।

इतिहासकारों का यह अनुमान है कि देव और असुर भिन्न-भिन्न प्रजाति थे, इसलिए इनमें भूमि पर अधिकार करने के लिए यह लम्बा संघर्ष हुआ । किन्तु, भारतीय इतिहासों के अध्ययन से ऐसा नहीं प्रतीत होता । उनकी प्रजाति ही नहीं, कुल भी एक था, वे परस्पर दायाद थे । उनका परस्पर संघर्ष ठीक वैसा ही था, जैसा कि आज रूस और चीन का, साम्यवादी और च्यांगकाइ शेक की फारमोसा-सरकार का, चीन में ही माओवादियों और माओविरोधियों का तथा भारत में सी० पी० आई और सी० पी० एम्० का । वस्तुतः, देवों और असुरों का विरोध जातीय नहीं, पारिवारिक, राजनीतिक तथा सैद्धान्तिक था । दिति के लड़के बड़ी बहन के पुत्र होने से अपने को वरीय मानते थे, किन्तु अदितिपुत्र इन्द्र ने सब भाइयों में वरीयतम स्थान प्राप्त कर लिया । दैत्य चाहते थे कि वे त्रिभुवन पर राज्य करें, किन्तु आदित्यों में इन्द्र और विष्णु के पराक्रम और कूटनीति से आदित्यों का प्रभाव बढ़ता गया । इस प्रकार, देवों तथा असुरों का पारस्परिक कलह ठीक वैसा ही था, जैसा पाण्डवों और कौरवों का । वैसे कुछ इतिहासकार तो यहाँतक कह बैठते हैं कि स्वयं पाण्डव भी कौरववंशी नहीं, बाहर से आये आक्रामक थे ।

---

१. धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम् ।—अरण्यपर्व, अध्याय १५७ ।

२. यातुधानः पुन्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी । —अमरकोष, स्वर्गवर्ग ।

परन्तु, देवों तथा असुरों के विरोध का सर्वाधिक प्रबल कारण क्रमशः सैद्धान्तिक होता गया। उन दोनों की नीतियों, मान्यताओं में ये प्रमुख अन्तर थे :

१. असुर प्रकृति से क्रूर थे। वे अपने शत्रु को कभी क्षमा नहीं कर सकते थे, बल्कि शत्रु की जाति के भी किसी व्यक्ति को निरपराध ही मार देने में वे तनिक भी नहीं हिचकते थे, यद्यपि उससे उन्हें वैयक्तिक रूप में कोई शिकायत नहीं रहती, प्रायः ठीक उसी प्रकार जैसे हमलोग किसी भी साँप को देखते ही उसे मार देते हैं। असुर देवों से लड़ने का बहाना ढूँढ़ते रहते थे। असुरों के सहायक राक्षस तो असुरों से भी अधिक रक्त-पिपासु निकले। उनका नाम राक्षस पड़ा ही इसलिए कि उन्हें देखते ही जनता अपनी रक्षा के लिए भाग खड़ी होती थी। वे अकारण हत्या करते थे। इसके विपरीत देव अपने शत्रुओं को भी क्षमा कर देते थे और आराधकों को तो साहाय्य, वरदान आदि देते थे। देवता क्षमावादी थे, असुर प्रतिशोधवादी।

२. असुर कुटिलता, कपट और धोखा को अपना प्रधान साधन बनाते थे। उनकी शूरता में माया का अवश्य समावेश होता था। देवगण इसमें अपटु थे। परन्तु, विष्णु ने इस दिशा में भी असुरों को पराजित किया, वे मायापति ही हो गये। पर, देवगण सदा मायावियों के साथ ही माया का बरताव करते थे, सबके साथ नहीं। वे माया से दूर रहना चाहते थे।

३. देव दक्षिणपन्थी थे। वे अपने परिश्रम से प्राप्त वस्तुओं से सन्तुष्ट-तृप्त रहते तथा दूसरों में बाँटकर उनका उपभोग करते। पर, असुर स्वार्थी वामपन्थी थे। वे अपने स्वार्थ के लिए सदा दूसरों पर आक्रमण करते, उनकी वस्तुएँ छीन लेने, अपना अधिकार-क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ाने तथा प्रतिरोधियों को निर्दयतापूर्वक मार देने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। राक्षसों का तो नाम ही रुधिरपायी हो गया। इसी से देवों को दिन प्रिय था, असुरों को रात।[1] इस प्रकार, देव तथा असुर वस्तुतः दो भिन्न प्रवृत्तियों—विचारधाराओं के नेता तथा पोषक थे।

गीता के सोलहवें अध्याय में कृष्ण ने कहा है कि सृष्टि में दो प्रकार के प्राणी हैं, दैवी प्रवृत्ति तथा आसुरी प्रवृत्ति के। दैवी दृष्टि है निर्भयता, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञानयोग में स्थिरता, दान, इन्द्रिय-नियन्त्रण, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगलखोरी न करना, सब प्राणियों पर दया, निर्लोभता, मृदुता, लोक-वेद-विरुद्ध आचरण में लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धृति, पवित्रता, अद्रोहता और निरभिमानता। आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, परुषता और अज्ञान। असुरों को यह विवेक नहीं कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं। उनमें न पवित्रता है, न आचार, न सत्य। वे अनीश्वरवादी हैं तथा धर्म और मोक्ष का आदर्श छोड़ केवल अर्थ और काम के पीछे दौड़नेवाले हैं। वे अल्पबुद्धि क्रूरकर्मा तथा जगत् के क्षय के निमित्त और अहितकारक हैं। ये सृष्टि से प्रलय तक किंकर्त्तव्यविमूढ होकर दुराग्रहों को पकड़कर कामोपासना में

---

१. अहर्वै देवा आश्रयन्त, रात्रीरसुराः।—ऐतरेय ब्राह्मण, १६।५।

निरत हो अपरिमेय चिन्ता तथा सैकड़ों आशाओं में बँधे रहकर अन्याय से अर्थसंचय करते रहते हैं। वे शास्त्रों का अनुसरण नहीं करते। उनका आहार-विहार, दान आदि तामस और राजस होते हैं। वे यज्ञ और घोर तप भी करते हैं, पर सब तामस और राजस तथा किसी दुष्प्रवृत्ति से परिचालित।

इससे स्पष्ट है कि दैत्यों और आदित्यों के द्वारा परस्पर स्पर्द्धा के कारण अनुसृत वाम तथा दक्षिण पन्थ क्रमशः विकसित होते-होते परस्पर सर्वथा विपरीत दो जीवन-दर्शनों में परिणत हो गये। परन्तु, इनमें वैयक्तिक राग-द्वेष अथवा विवेक के कारण कई दैत्यपक्षीय व्यक्ति आदित्यों के पक्ष में चले गये और आदित्यपक्षीय व्यक्ति दैत्यों के पक्ष में। जैसे बृहस्पति और शुक्र दोनों चचेरे भाई थे। बृहस्पति ब्रह्मा के मानसपुत्र अंगिरा ऋषि के पुत्र थे और शुक्र ब्रह्मा के ही मानसपुत्र भृगु के पुत्र। इन दोनों को अपनी-अपनी बुद्धि और और विद्या का गर्व था। दोनों ही देवों के धार्मिक, आध्यात्मिक नेता या पुरोहित होने की स्पृहा-स्पर्द्धा रखते थे। देवराज इन्द्र ने इन दोनों में बृहस्पति को अपना देवगुरु (देवपुरोहित) घोषित कर दिया। शुक्र इस पराभव से जल ही रहे थे कि दैत्यों ने शुक्र से अपना आध्यात्मिक नेतृत्व स्वीकार करने की प्रार्थना की। भृगु का विवाह पुलोमा दैत्य की पुत्री से हुआ था और शुक्र पौलोमी के ही पुत्र थे, अतः भृगु पर दैत्यरक्त का पर्याप्त प्रभाव भी था। फलतः, उन्होंने दैत्यगुरु का पद स्वीकार कर लिया। शुक्र ने प्रतिस्पर्धा से विद्या-बुद्धि में बृहस्पति से बढ़ जाने के लिए घोर तप और श्रम किया, जिससे वे वास्तव में बृहस्पति से अधिक विद्वान् बन गये। मृतसंजीवनी विद्या शुक्र को ही विदित थी, बृहस्पति को नहीं। राजनीति में भी शुक्र की बुद्धि बृहस्पति से अधिक मँज गई। परन्तु, मातृवंश और बृहस्पति की ईर्ष्या के कारण शुक्र की नीति सात्त्विकतारहित और कुटिल हो गई। पुत्र तथा पत्नी के प्रभाव और संसर्ग से भृगु भी दैत्यपक्ष की ओर उन्मुख हो गये थे। इसी प्रकार, इन्द्र के छोटे भाई त्वष्टा का विवाह भी दैत्यकन्या से हुआ था। उससे त्वष्टा को दो पुत्र थे, त्रिशिरा विश्वरूप तथा वृत्र। त्रिशिरा विश्वरूप ऋषि हो गया था, पर भीतर-ही-भीतर वह दैत्यों से मिला हुआ था, अतः इन्द्र ने उसका वध कर दिया। त्वष्टा ने वज्र बनाकर इन्द्र को दिया था, पर इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का ही वध किया, इसलिए त्वष्टा ने यज्ञ करके इन्द्रघाती पुत्र की कामना की। परन्तु, विधि-विपर्यय से उनका वह पुत्र वृत्र इन्द्र द्वारा त्वष्टा के बनाये वज्र से ही मारा गया। यह वृत्र अपने अग्रज के वध के कारण इन्द्र से इतना क्रुद्ध हो गया था कि वह असुरों से मिलकर उनका ही नेता बन बैठा था। इस प्रकार, इन्द्र ने अपने भतीजों का ही वध किया। सम्भव है, इसी से 'भ्रातृव्य' शब्द भतीजे के साथ शत्रु का भी वाचक बन बैठा।

इस प्रकार, कश्यप के पुत्रों में ही ये दो दल हो गये, आदित्य अथवा देव और दैत्य, दानव अथवा असुर, जिनका संघर्ष सदा चलता रहा। शेष सभी इनमें से ही किसी-न-किसी

के समर्थक हुए । तैत्तिरीय संहिता,[१] जैमिनीय ब्राह्मण[२] आदि में यह कहानी आई है कि इस दीर्घकालीन गृहयुद्ध में देवों का साथ पितरों और मानवों ने दिया था, असुरों का राक्षसों और पिशाचों ने । परन्तु, शीघ्र ही मनुष्यों को देवों और असुरों से भिन्न एक स्वतन्त्र मध्यम मार्ग अपनाना पड़ा; क्योंकि वे देवों-असुरों की भाँति शक्तिशाली नहीं थे । इस प्रकार, पृथ्वी पर अपनी स्थिति और विकास के लिए लोगों ने दो की जगह· तीन जीवन-दर्शनों या मार्गों की अवतारणा थी । बृहदारण्यक उपनिषद् में एक कहानी आई है कि प्रजापति के तीनों प्रकार के पुत्रों देवों, मनुष्यों और असुरों ने अपने पिता प्रजापति के निकट अपेक्षित अवधि तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया । तदनन्तर, पहले प्रजापति के पास जाकर देवों ने प्रार्थना की, 'भगवन् आप हमें उपदेश दें ।' प्रजापति ने केवल एक अक्षर का उच्चारण किया 'द' । फिर पूछा, समझा इसका अर्थ ? देवों ने कहा, हाँ भगवन्, समझा, आप हमलोगों को 'द' अक्षर से 'दम' की शिक्षा दे रहे हैं कि हमलोग मन और इन्द्रियों को अपने वश में करें, जितेन्द्रिय बनें । प्रजापति ने कहा—ठीक समझा । देवगण प्रसन्न और कृतार्थ हो विदा हुए । तब मनुष्यों ने उसी भाँति प्रजापति के पास जाकर उपदेश देने की प्रार्थना की । प्रजापति ने उन्हें भी केवल 'द' कहकर पूछा, क्या समझे ? मनुष्यों ने कहा कि आप हमें 'द' अक्षर से 'दान' की शिक्षा दे रहे हैं । प्रजापति ने उन्हें भी कहा कि तुमलोग ने ठीक समझा । अन्त में असुरों ने भी प्रजापति से उसी प्रकार उपदेश माँगा और उन्हें भी 'द' का ही उपदेश मिला । असुरों ने अपने 'द' का अर्थ लगाया 'दया', अर्थात् वे निरपराध ही प्राणियों का वध या उत्पीड़न करते थे, उन्हें प्रजापति ने सब पर 'दया' बरतने की शिक्षा दी ।[3]

यह कथा वास्तव में तीन प्रकार के जीवन-दर्शन, सभ्यता या मार्ग की ओर संकेत कर रही है, साथ ही देवों, मनुष्यों और असुरों का चरित्र-चित्रण भी कर रही है । देवगण यद्यपि दूसरों का अपकार नहीं, उपकार ही करते थे, परन्तु भोगवादी थे । उनका स्वर्ग भी उत्तम-उत्तम भोग-वस्तुओं का भाण्डार ही था । इसलिए, वे विषयसुख में डूबकर अकर्मण्य हो रहे थे, और इसीलिए इन्द्र सदा अपने स्वर्ग की रक्षा के लिए भयभीत, शंकित रहते थे । नृत्यगीतपरायण, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श के दास कामी यक्षगन्धर्वों की संगति से देवगण भी स्त्रैण हो गये थे । प्रसाद की कामायनी में भी इसका पर्याप्त संकेत है । इसलिए, प्रजापति ने उन्हें त्यागी एवं इन्द्रियनिग्रही बनने की शिक्षा दी । देव भौतिक-वैषयिक सुख को ही

---

१. देवाः मनुष्याः पितरस्तेन्यत आसत् असुरारक्षांसि पिशाचास्ते अन्यतः—२।४।१-१ ।

२. देवाः पितरो मनुष्यास्तेऽन्यत आसन्, असुरा रक्षांसि पिशाचा अन्यतः...... ।—१।१५४ ।

३. त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्, देवा मनुष्या असुराः । उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुः—ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति । व्यज्ञासिष्ट इति ? व्यज्ञासिष्मेति होचुः दाम्यत इति न आत्थ इति । ओमित्युवाच व्यज्ञासिष्टेति । अथ हैनं मनुष्या ऊचुर् ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति । व्यज्ञासिष्ट इति ? व्यज्ञासिष्मेति होचुर् दत्तेति न आत्थेति । ओमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति । अथ हैनमसुरा ऊचुर् ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच 'द' इति । व्यज्ञासिष्ट इति । व्यज्ञासिष्मेति होचुर् दयध्वमिति न आत्थेति । ओमित्युवाच व्यज्ञासिष्टेति । (५।२)

आराध्य मान रहे थे, उन्हें ब्रह्म अर्थात् मोक्ष के आनन्द की ओर उन्मुख किया। मनुष्य अभी आन्तरिक विकास में बहुत पीछे थे। वे सब प्रकार के सुख का साधन एकमात्र अर्थ-संचय को ही मान रहे थे, इसलिए उनमें अधिक-से-अधिक सम्पत्ति के अर्जन की अस्वस्थ पिपासा-स्पर्द्धा बढ़ती जा रही थी, जिससे अल्पबल व्यक्तियों के लिए आवश्यक उपयोग की वस्तुएँ भी दुर्लभ हो रहीं थीं, परस्पर द्वेष बढ़ रहा था, अतः प्रजापति ने उन्हें दान की शिक्षा देकर अल्प सामर्थ्यवालों को भी अपने भौतिक सुख में साथी बनाने की प्रेरणा दी; ठीक जैसे आज भी अधिक सम्पत्तिवालों को विनोबाजी सम्पत्ति-दान की शिक्षा देते हैं। असुर देवों के प्रति प्रतिहिंसा से इतने उग्र हो गये थे कि वे लोगों का अकारण भी वध कर उनका मांस-रुधिर खाते-पीते, किसी भी कन्या का अपहरण कर लेते, किसी को भी लूटते-पीटते, अत्याचार उनका मनोरंजन हो रहा था, अतः प्रजापति ने उन्हें सब प्राणियों पर दया की शिक्षा दी। इस प्रकार, नैतिक दृष्टि से देव सबके ऊपर, मनुष्य मध्य में तथा असुर सबसे नीचे थे। सारा संसार असुरों से डरता था, उनसे घृणा करता था, उन्हें शाप देता था। गीता के अट्ठारहवें अध्याय में सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतियों का विस्तृत वर्णन है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि देव-संस्कृति अधिक सात्त्विक, मानव-संस्कृति अधिक राजस और असुर-संस्कृति अधिक तामस थी। पर, मानव-संस्कृति तो बहुत बाद में, दोनों संस्कृतियों से अपना आहार लेकर, बनी। आरम्भिक काल में देव और असुर दो ही संस्कृतियाँ थीं।

ब्रह्मा और शिव को देव और असुर दोनों ही पूज्य मानते थे। दोनों ही इनकी उपासना, आराधना करते थे। इनसे वरदान लेते। ब्रह्मा और शिव दोनों ही इतने भोले थे कि किसी भी दल के किसी भी आतुर याचक को कुछ भी दे देते। विष्णु ने भी पहले बहुत कुछ तटस्थता बरतकर दोनों पक्षों का समान स्नेह पाया था; परन्तु वे धीरे-धीरे असुरों से विमुख होते गये, यद्यपि उन्हें इन्द्र की भाँति दोनों के राज्य और भोग की कामना नहीं थी। असुरों ने क्रमशः विष्णु को देव-पक्षपाती देखकर उनकी भक्ति छोड़ दी। इसकी चर्चा भागवत के उत्तरार्द्ध में सप्तम स्कन्ध[1] में आई है. फिर भी प्रह्लाद, विरोचन, वालि आदि इन्द्र तथा देवों से युद्ध करके भी विष्णु के भक्त बने रहे, इसी से संघर्ष रुका। इस प्रकार, देवों ने गन्धर्वों आदि को मिलाकर देव-गन्धर्व-सभ्यता की तथा असुरों ने राक्षस आदि को मिलाकर असुर-राक्षस-सभ्यता की नींव डाली।

ऐसा प्रतीत होता है कि लम्बे और असमाप्य संग्राम के बाद देवों ने असुर राक्षसों को पाताललोक दे दिया। चूँकि, नाग भी असुरों का ही साथ दे रहे थे, अतः उन्हें भी पाताललोक ही भेजा और नागों के ईश विष्णु के अन्तरंग सखा हो गये थे, अतः उनकी स्मृति में पाताललोक का दूसरा नाम नागलोक भी दिया। देवों ने अपने लिए केवल त्रिविष्टप या स्वर्ग रखा, जिसे अब वे देवलोक कहने लगे। इन दोनों के बीच की भूमि

---

१. पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः।
तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणोर्मायावनौकसः।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः॥—अध्याय २, श्लोक ६-७।

मानवों—मर्त्यों को दे दी, और इसका नाम मर्त्यलोक रखा। यह देवों-असुरों के बीच तटस्थ राष्ट्र (बफर स्टेट) का काम करने लगा। त्रिविष्टप या स्वर्ग का अर्थ सम्भवतः उत्तर-पूर्व में तिब्बत के आसपास की हिमालय-उपत्यका थी। मर्त्यलोक का अर्थ था तिब्बत से दूर-दूर की समतल भूमि तथा पाताल का अर्थ सुदूर अमेरिका की भूमि। इनमें स्वर्ग को सबसे ऊँचा, पाताल को सबसे नीचा तथा मर्त्य को बीच का प्रदेश माना जाता था।

एक बात ध्यातव्य है। असुर-राक्षस-सभ्यता के संस्थापक नेता मूलतः असन्तुष्ट देवगण ही थे। जब भृगु के पुत्र शुक्र को देवों में बृहस्पति के तुल्य सम्मान नहीं मिला, तब वे पत्नी पौलोमी तथा पुत्र का समर्थन करते हुए असुरों से सहानुभूति करने लगे। वरुण इन्द्र के बड़े भाई थे। किन्तु, देवराज वरुण नहीं, इन्द्र बने, इसलिए वरुण ने भी असुरों की पीठ ठोंकी। देव आदित्य विवस्वान् के दो पुत्र थे, यम और मनु। इन्हें देवों में स्थान नहीं मिला। यम को पितरों का राजा मान लिया गया, किन्तु इससे उनको पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। फलतः, वे भी राक्षसों, असुरों के नेता होकर प्रेतपति और मृत्यु के देव कहलाये। मनु को देवों की आलस्य-भोग-प्रधान संस्कृति पूरी तरह रुची भी नहीं, अतः उन्होंने एक स्वतन्त्र मानव-संस्कृति की नींव डाली। देवों का केन्द्र था त्रिविष्टप-प्रदेश, मनु ने मानव-संस्कृति का केन्द्र बनाया सप्तसिन्धु-प्रदेश को, इसलिए वरुण, भृगु-शुक्र और यम ने पश्चिम-दक्षिण की ओर बढ़कर असुर-राक्षस-सभ्यता का प्रचार-प्रसार किया। देव मानवों के आराध्य तथा संरक्षक बने रहे। अधिकारी श्रेष्ठ मानवों को स्वर्ग में स्थान भी देते रहे,। किन्तु असुर दैत्य उनके कट्टर शत्रु बन बैठे।

मानव-सभ्यता के केन्द्र सप्तसिन्धु-प्रदेश में 'देव' का अर्थ था उत्कृष्ट व्यक्ति। ब्राह्मणों को भू-देव कहते थे, नेताओं राजाओं को 'देव' सम्बोधन किया जाता था। साथ ही, दैत्य का अर्थ था अत्याचारी, क्रूर व्यक्ति। परन्तु, जिन लोगों को गृहयुद्ध में पराजित होकर पश्चिम की ओर भागना पड़ा, सप्तसिन्धु या प्राचीन भारत को छोड़ना पड़ा, उनके लिए इन शब्दों का अर्थ ठीक विपरीत था। अँगरेजी के डीटी (Deity) का अर्थ है उत्कृष्ट व्यक्ति, मानव से उच्च स्तर का प्राणी। यद्यपि यह शब्द स्पष्ट ही देवभाषा (संस्कृत) के 'दैत्य' शब्द का अपभ्रंश है। इसी प्रकार (Demon) का अर्थ है दुष्ट व्यक्ति, मानव से निकृष्ट कोटि के प्राणी, शैतान। यद्यपि यह देवभाषा के 'देवन्' (देव) का अपभ्रंश है। यह अर्थ-विपर्यय ही प्रकट कर रहा है कि दोनों दलों में परस्पर कितनी द्वेष-घृणा थी। भारतीयों के पूज्य ब्रह्म हैं, किन्तु यहूदियों के पूज्य अब्राहम अर्थात् अब्रह्म ! यस्न में जरथुस्त्र ने लिखा है कि "मैं देवधर्म का त्याग करता हूँ, ये दुष्ट हैं, बुरे हैं, दुर्गुणों के प्रवर्त्तक हैं, विनाशक हैं, जादूगर हैं, मन्त्र-तन्त्र करते हैं।" इससे स्पष्ट है कि ये भारत से सिन्ध होकर ही ईरान की ओर गये थे। 'माओ' का अर्थ चीन के लिए दूसरा है, रूस और भारत के लिये दूसरा। 'जिन्ना' का अर्थ पाकिस्तान के लिए दूसरा है, भारत के लिए दूसरा। शिवाजी मराठों के लिए भगवान् थे, मुगलों के लिए शैतान। देवों ने अपने को असुरों से भिन्न करने के लिए, सुर तथा मर्त्यों से भिन्न करने के लिए, 'सुर अमर्त्य' कहना आरम्भ

किया, परन्तु पारसियों ने अपने उपास्य को बड़े गौरव से 'अहुर मज्द' (जो 'असुर मर्त्य' शब्द का ही अपभ्रंश है) नाम दिया । देवों-मानवों ने अपने पवित्र धर्मग्रन्थ को 'वेद' कहा, तो असुर के उपासक पारसियों ने अपने धर्मग्रन्थ को अवेस्ता (जो अवेद शब्द का ही अपभ्रंश है) । आश्चर्य है कि वेद का भी अर्थ 'ज्ञान' है और अवेस्ता का भी । सप्तसिन्धु-वासियों ने पद्य को छन्द कहकर पुकारा, तो पारस-वासियों ने गद्य को जेन्द (जो स्पष्ट ही छन्द का तद्भव है) कहा ।

स्वभावतः ही यह जिज्ञासा होती है कि सप्तसिन्धु-संस्कृति के ठीक विपरीत नाम रखने के पीछे इन पश्चिमीयों के मन में कौन-सी मनोवृत्ति काम कर रही थी ? ये कौन थे, जिन्हें देवों से इतनी घृणा थी कि ये उनका विपरीतार्थक नाम रखते थे । सम्भवतः, ये वरुण के उपासक थे । वरुण यद्यपि आदित्य थे, इन्द्र के बड़े भाई थे । परन्तु, देवों में इनका महत्त्व प्रथम नहीं, द्वितीय स्तर का था । देवों के स्तुत्यर्थ सम्बोधन में लोग इन्द्र और वरुण (इन्द्रा-वरुण) मित्र और वरुण (मित्रावरुण) आदि कहते थे । इसलिए, वे भी शुक्र की भाँति पश्चिम में जाकर असुरों से मिल गये । देवों ने इन्द्र को पूर्व दिशा का अधिपति स्वीकार किया था तथा शंकर और उनके भक्त शरणागत राक्षस कुबेर को यक्षराज बनाकर उत्तर दिशा का अधिपति मान लिया था । वरुण पश्चिम में जाने पर असुरों के द्वारा पश्चिम दिशा के लोकपति स्वीकृत कर लिये गये । उनका नाम पड़ा 'अहुर मज्द' और वे असुरों के पूज्यतम उपास्य नेता कहलाये । सुमेर-सभ्यता वरुण तथा उनके उपासकों-अनुयायियों द्वारा ही स्थापित की गई थी । श्रीअरविन्द ने ठीक ही कहा है[1] कि इतिहास में वर्णित आर्यो-अनार्यों का संघर्ष वस्तुतः एक ही प्रजापति के दायादों-बन्धुओं का आर्थिक राजनीतिक संघर्ष था, दो प्रजातियों का नहीं । मुझे तो लगता है, यह देवों, असुरों, अर्थात् दैत्यों-आदित्यों का ही संघर्ष था । प्राचीन ईरान के शासक वरुण ही थे । इन्हीं का नाम इलोहिग या इलाही भी पड़ा । यह भी अर्थपूर्ण लगता है कि वरुण का नाम वृत्र का समानार्थक (आच्छादक) रखा गया । भृगु वैसे तो ब्रह्मा के मानसपुत्र थे, परन्तु वरुण के यज्ञ के समय ही ब्रह्मा से उत्पन्न हुए थे, अतः वरुण से उनकी सहानुभूति थी । फिर अपनी पत्नी तथा पुत्र के प्रभाव से भी वे वरुण के पक्ष में ही मिलकर असुरों की ओर चले गये । शुक्र को काव्य भी कहते थे । वे ही असुरों के पुरोहित बने । वरुण के साम्राज्य में इन पिता-पुत्रों का बहुत सम्मान किया गया । भृगु के नाम पर एशिया माइनर के टेबललैण्ड को भृगु ही कहा गया (जिसे अब ब्रिगु कहते हैं) । मक्का के मन्दिर का नाम शुक्र के नाम पर 'काव्य' रखा गया, जिसका अपभ्रंश आज 'काबा' हो गया है । सप्ताह में शुक्रवार जुम्मा ही सबसे पवित्र माना गया । शुक्र के पोते और्व के नाम पर देश का नाम भी और्व रखा गया, जो क्रमशः विकृत हो गया और अरब बना । देभावन्त (पहाड़) वस्तुतः देववन्त का ही अपभ्रंश है । इससे पूरब देवों की सभ्यता थी, उससे पश्चिम असुरों की । देववन्त

---

१. वेदरहस्य, पृ० ३३

पहाड़ सीमा पर था। 'कास्पियन सी' वस्तुतः काश्यपीय सागर है। असुरों ने अपने मूल पुरुष काश्यप की स्मृति के लिए यह नाम रखा। देवों ने उच्च भूमि अपने लिए रखी और उसे काश्यपमेरु कहा, तो असुरों ने अपने लिए प्राप्त निम्न भूमि सागर को ही काश्यपीय सागर कहकर पुकारा। सूर्यपुत्र मनु ने देवों का साथ दिया, अपनी मानव-संस्कृति का आदर्श देवत्व-प्राप्ति ही बताया, देवों को अपना उपास्य स्वीकार किया, किन्तु यम वरुण के साथ मिल गये थे। इसी से वे भारत में दक्षिण दिशा और मृत्यु के देव कहलाये। उनके प्रसादन के लिए वरुण ने अपनी सभ्यता का नेता सूर्य को ही घोषित किया, जिससे वह सूर्यनेतृक सभ्यता (हीलियोलिथिक सिविलाइजेशन) कहलाई। 'हीलियोलिथिक' 'सूर्यनेतृक' का ही अपभ्रंश है (सूर्य—हीलियो, नेतृक—लीथिक)। साथ ही, अहुर मज्द ने (अपने) को सूर्यमण्डल के बीच में ही प्रतिष्ठित बताया। वैदिक मन्त्र हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्या पिहितं मुखम्, योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्' ने भी ब्रह्म को सूर्यमण्डल के बीच ही बताया है। यम की असुर-सभ्यता, जिसका विस्तार दक्षिण अमेरिका तक दिख रहा है, की स्थापना में इनका महत्त्वपूर्ण हाथ था, इसीलिए अवेस्ता में 'यिम' के रूप में वे एक महान् पुरुष माने गये हैं। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु भारत में देव-सभ्यता या मानव-सभ्यता के पोषक के रूप में सम्मानित हुए, अतः मनु के जामाता चन्द्रपुत्र बुध ने पश्चिम में यम से मिलकर चन्द्र की पूजा आरम्भ कराई। इसी से इस्लामिक सभ्यता में सूर्य से अधिक चन्द्र की पूजा प्रचलित हो गई। क्षत्रियों में सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी का विवाद भी एतन्मूलक ही हुआ।

देवों से पराजय की प्रतिक्रिया के कारण प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, बर्बरता, क्रूरता की प्रवृत्ति असुरों के रक्त में ही भर गई थी, इसीलिए इतिहास में असुर या असीरियन सभ्यता के लोगों के वर्णन में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वे पराजित शत्रुओं से अमानवीय क्रूरता बरतते थे। वे प्रकृति से ही क्रूर तथा झगड़ालू थे, और उनका साम्राज्य केवल पाशविक बल से ही निर्मित तथा परिचालित होता था। युद्ध में बर्बरता का प्रदर्शन, पराजित शत्रुओं को जीवित ही जला देना उन्हें प्रिय था। वे इतिहास में अद्वितीय अत्याचारी बताये गये हैं। उनका शासन केवल सैन्यबल, पशुबल या भय पर ही आधृत था। असीरियन सभ्यता असुरों के द्वारा ही बेबिलोन में स्थापित की गई थी। यह हीलियोलीथिक या सूर्यनेतृक सभ्यता की ही एक शाखा थी। इसकी दूसरी शाखा मेसोपोटामिया तथा इजिप्ट में प्रचलित हुई, और तीसरी 'मय' दानव की स्मृति में मय-सभ्यता कहलाकर नागलोक, पाताललोक या अमेरिका में विकसित हुई। दक्षिण अमेरिका में खुदाई से ज्यों-ज्यों मय-सभ्यता के अवशेष मिलते जा रहे हैं, त्यों-त्यों उनका प्राचीन भारतीय सभ्यता से सादृश्य स्पष्ट होता जा रहा है। वहाँ भी यम के अनुरोध से सूर्यपूजा का प्रचार मिलता है। मिस्री लोगों के उपास्य 'अमोन रा' अर्यमन् रवि (सूर्य) ही हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् की एक कथा से देवों और असुरों की क्रमशः त्यागप्रधान सात्त्विक और भोगप्रधान तामस सभ्यता का परिचय मिलता है। एक बार देवराज इन्द्र तथा असुरराज विरोचन में प्रजापति के पास जाकर आत्मविद्या माँगी। बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्यपूर्वक उनके साथ रहने पर उन्होंने उपदेश दिया कि वह शरीर ही आत्मा है। विरोचन इस

उत्तर से सन्तुष्ट हो गया। उसने शरीर को एक-से-एक उत्तम आहार खिलाना, उत्तम-से-उत्तम वस्त्र पहनाना, मूल्यवान्-से-मूल्यवान् आभूषणों से सजाना अपना ध्येय बना लिया।[1] शरीर के प्रति इतनी भक्ति बढ़ती गई कि असुरों के मरने के बाद भी शरीर के भोग के लिए शव-मंजूषा (कोफिन) में उत्तम खाद्य, वस्त्र, आभूषण, जीवित स्त्रियाँ आदि भी रखना प्रारम्भ कर दिया। इस लोक की कमाई का सार उन्होंने शरीर-सेवा को ही समझा। किन्तु, इन्द्र को प्रजापति के इस शरीरात्मवाद से शीघ्र ही असन्तोष हो गया। वह बार-बार प्रजापति के पास जाकर ब्रह्मचर्य का पालन कर अपनी शंका उनके सामने पेश करते। प्रायः सौ वर्षों तक तपस्या कर उन्होंने प्रजापति से यह तत्त्वज्ञान प्राप्त किया कि आत्मा शरीर नहीं है, आत्मा जन्म-मृत्यु से, यहाँतक कि सुख-दुःख से भी परे है, शरीर तो इसका तात्कालिक आवास-मात्र है। इस आत्मज्ञान के कारण ही देव त्रिभुवनविजयी हुए और असुर पराजित। वास्तव में, मिस्र में मुरदों के साथ खाद्य पदार्थ आदि कोफिन में रखे जाते थे। पिरामिड भी इस प्रेतपूजा के ही स्मारक हैं। गीता में असुरों और तामस व्यक्तियों के लक्षण में यह प्रेतपूजा भी गिनाई गई है। इससे भी यही स्पष्ट हो रहा है कि असुर-सभ्यता मध्य तथा पश्चिम एशिया और यूरोप में फैली हुई थी।

यहाँ इस तथ्य की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक है कि भारत में आर्य शब्द का प्रयोग कहीं भी प्रजापति-विशेष के लिए नहीं मिलता। आर्य शब्द का अर्थ है अनुगमन करने योग्य, श्रेष्ठ।[2] इस अर्थ के अनुसार सामान्यतः सभी देव आर्य थे और असुर अनार्य। इस प्रकार, आर्य-अनार्य दोनों ही परस्पर दायाद-रक्त-सम्बन्धी थे, भिन्न प्रजापति नहीं। लोग गुरुजनों को, अपने से बड़ों को यों भी 'आर्य' सम्बोधित करते। 'आर्य' का ही तद्भव है 'आजा'। राम ने जटायु को 'आर्य' कहकर पुकारा है, मन्दोदरी ने रावण को आर्यपुत्र कहा है, यद्यपि रावण राक्षसराजा था और जटायु गृध्रराज। ईरान के सम्राट् डेरियस (५२२ ई० पू०) ने भी बार-बार अपने को 'आर्यदारा' कहा है। किन्तु, सामान्यतः 'अनार्य' से आर्य-विगर्हित असुरों का बोध होता था, जो हिंसा, द्वेष, क्रूरता और घृणा के प्रतीक हो गये थे, और आर्यों, देवों का मार्ग था अहिंसा, क्षमा, प्रेम का। भृगु ने एक बार विष्णु की छाती में लात मारी थी, परन्तु विष्णु ने उनपर तनिक भी क्रोध नहीं किया, वे उनके क्रोध पर मुस्कराकर रह गये। इसी क्षमा के कारण विष्णु महान् समझे गये। उलटे कृष्ण ने अपने को महर्षियों में भृगु कहकर उनका सम्मान ही बढ़ा दिया।[3]

ऋक्-प्रातिशाख्य में एक जगह मात्राओं का विश्लेषण करते समय बताया गया है कि मात्राएँ चार प्रकार की होती हैं: १. प्रजापति की, २. देवों की, ३. असुरों की और ४. ऋषियों की। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन सातों ही छन्दों में प्रजापति, देवों तथा ऋषियों के अनुसार अक्षर बढ़ते जाते हैं, परन्तु असुरों के अनुसार घटते जाते हैं। जैसे ऋषियों की गायत्री में २४ अक्षर थे, उष्णिक् में २८,

---

१. छा० उ०, ८।७ -१२।

२. ऋ गतौ से कृत्य य (ण्यत्) प्रत्यय करने पर 'आर्य' बनता है; जैसे कृ से कार्य, धृ से धार्य।

३. गीता, १०।२५।

अनुष्टुप् में ३२, पर असुरों की गायत्री में १५ अक्षर, उष्णिक् में १४, अनुष्टुप् में १३। इस वर्णन से ये बातें प्रकाश में आती हैं : १. मानवों के नेताओं को ऋषि, अर्थात् द्रष्टा कहते थे, इसलिए मानव-सभ्यता आर्य-सभ्यता कहलाई। २. देवों और ऋषियों की भाँति असुरों का भी कोई अपना वेद था, जिसमें इन्हीं सातों छन्दों का प्रयोग होता था। उनका इतना अंश अपनी प्रजापति और पूर्वजों के तुल्य था। ३. परन्तु, सब क्षेत्रों की भाँति इसमें भी असुर देवों से ठीक विपरीत ही चले, उन्होंने छन्दों में आरोही की जगह अवरोही क्रम अपनाया। ४. क्या असुरों का वेद अवेस्ता ही है और उसमें छन्दों का विधान ऐसा ही है ? तब तो इसकी विस्तृत परीक्षा होनी चाहिए।

संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि असुर यद्यपि देवों के बन्धु-बान्धव ही थे, इसीलिए बहुत-से नाम तथा उपास्य देवों से ही मिलते-जुलते हैं, तथापि देवों के प्रति द्वेष तथा घृणा से उन्होंने अनेक शब्दों का अर्थ देवों के विपरीत कर लिया। जैसे अशोक ने अपने को 'देवानां प्रियः' कहा, अर्थात् वह अपने को देवों का प्रिय समझता था, परन्तु बौद्धधर्मद्वेषी ब्राह्मणों ने अपने कोश में 'देवानां प्रियः' का अर्थ लिखा मूर्ख। ये देव तथा उनने अनुवर्त्ती ऋषि या मानव प्रायः भारत में; सप्तसिन्धु-प्रदेश में, कश्मीर में और तिव्बत में रह गये और असुर मध्य-पश्चिम एशिया तथा यूरोप होते हुए अमेरिका तक फैल गये। ये देव-असुर के दो दल सृष्टि के आरम्भ से अबतक आ रहे हैं। पुराणों तथा ईरानियों के धर्मग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि कोई संग्राम दो जत्थों के बीच हुआ था। पुराणों का कहना है कि इसमें देवताओं ने असुरों को पराजित कर उन्हें पश्चिम खदेड़ दिया। अवेस्ता का भी कथन है कि उनके पैगम्बर अपनी जन्मभूमि से भगा दिये गये। मिस्र का इतिहास भी यही कहता है कि वहाँ के मूल निवासी पूरब से चलकर आये ! इस पारिवारिक कलह का आरम्भ २५ हजार वर्ष से भी बहुत पूर्व माना जाता है। विनोबाजी ने अपने एक निवन्ध में स्वीकार किया है कि परशुराम कम-से-कम २० हजार वर्ष पूर्व हुए। उस समय तक संस्कृति केवल सप्तसैन्धव प्रदेश में ही बढ़ रही थी। इन दोनों का परस्पर घात-प्रतिघात सदा भारत में भी चलता रहा। त्रेता में रामदेव मानव-सभ्यता के प्रतिनिधि थे, रावण ब्राह्मण और ऋषि विश्रवा का पुत्र होकर भी दैत्यमाता के प्रभाव से असुर-राक्षस-सभ्यता का प्रतिनिधि बना। इन दोनों के युद्ध में देवता राम की विजय-कामना कर रहे थे और असुर रावण की, यद्यपि रावण ने विश्वविजय के प्रसंग में स्वार्थवश अनेक दैत्यों और मानवों को भी मारा सताया था ! स्वार्थियों का कौन अपना होता है ? विभीषण राक्षस होकर भी देवपक्ष में मिल गये ! इसी प्रकार, द्वापर में कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि देव-संस्कृति के प्रतीक थे, शकुनि, कर्ण, दुःशासन, दुर्योधन आदि असुर-संस्कृति के। अर्जुन और कर्ण के संग्राम में भी देवगण अर्जुन की विजय मना रहे थे, असुर कर्ण की; बल्कि असुरों के साथ सूर्य भी पुत्रमोह से कर्ण की विजय-कामना कर रहे थे। इस प्रकार, भारत में दोनों ही सभ्यताओं का जन्म तथा विकास हुआ। वर्त्तमान काल में भी इन दोनों संस्कृतियों का संघर्ष तो चल ही रहा है, परन्तु अभी यह कहना ठीक नहीं 'लगता कि कौन-से राष्ट्र या लोग देव-संस्कृति के प्रतिनिधि हैं और कौन-से असुर-संस्कृति के। भविष्य ही इसका निर्णय करेगा। ❀

नेतरहाट विद्यालय, राँची

भगवान् मनु का काल

डॉ० देवसहाय त्रिवेद

विवस्वान् के पुत्र मनु का काल निश्चित करना इस ऐतिहासिक युग में टेढ़ी खीर है, फिर भी लेखक ने ग्रीक स्रोतों के आधार पर मनु के काल का प्राय: ठीक-ठीक निर्णय करने का यत्न किया है। सन्द्राकुतस (=समुद्रगुप्त) और सेल्युकस में सन्धि हो जाने के बाद सम्भवतः शीघ्र ही मेगास्थनीज (खृ० पू० ३००) के लगभग भारत में आया होगा। वह समुद्रगुप्त की राज्यसभा में राजदूत होकर आया या।

ऐरियन ग्रीस का इतिहासकार और दार्शनिक था। ऐरियन[१] (९० से १८० ई०) कहता है : भारतीयों के अनुसार डायोनिसस से सन्द्राकुतस तक १५३ राजाओं ने ६०४२ वर्षों तक राज्य किया। इस मध्य इन्होंने तीन बार गणराज्यों की स्थापना की। एक तो ३०० वर्ष और एक १२० वर्षों तक रहा।

प्लीनी[२] (२३–७९ ई०) या ज्येष्ठ प्लीनी, जो रोम का विद्वान् और प्राकृतिक इतिहास का लेखक है, कहता है : पिता बैंकस (=मनु) से महान् सिकन्दर तक इनके १५३ राजा हो गये, जिन्होंने ६४५१ वर्ष और तीन मास राज्य किया।

ये दोनों विद्वान्, राजाओं की और उनके भुक्त वर्ष की संख्याएँ गोलमटोल नहीं, किन्तु विषम संख्या में प्राय: ठीक-ठीक देते हैं। अतः, इन्हें विश्वस्त माना जा सकता है, यद्यपि सामान्यतः ग्रीक लेखकों के वचन तोड़-मरोड़ के कारण श्रद्धा एवं विश्वास के पात्र नहीं कहे जा सकते। डायोनिसस ने जनता को विधि की शिक्षा दी और उन्हें भूमि-वपन सिखाया। लोग छोटी पल्लियों में रहते थे, तब उसने विशाल नगरों की स्थापना की, विधि का प्रचार किया तथा न्यायालयों की स्थापना की। लोग उसे देव समझते थे और उसे अपूर्व श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। पिता बैंकस के समान डायोनिसस ने भी भारत पर सर्वप्रथम आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। अतः, दोनों समकालिक ज्ञात होते हैं। शायद वह हमारे युग के सप्तम मनु के प्रतिनिधि ज्ञात होते हैं।

दोनों भुक्त राजवर्षों (६४५१—६०४२) में ४०९ वर्षों तथा तीन महीने का अन्तर है। इस अभ्यन्तर वर्ष की व्याख्या इसी आधार पर की जा सकती है कि ये तीन गणराज्यों के काल हैं (३००=१२०+य) स्यात्। ये गणराज्य राजा विशाल के बाद

---

१. रमेशचन्द्र मजूमदार : क्लासिकल एकाउण्ट ऑव इण्डिया, कलकत्ता १९६०, पृ० २२३।
२. वही, पृ० ३४०।

तथा बुद्धकालीन गणराज्य के द्योतक हैं। किन्तु, गणराज्यों के ये काल गोल-मटोल होने के कारण सन्देहास्पद हैं और इनका योग ४०९ वर्ष माना जा सकता है।

मनु के काल से मगधराज जरासन्ध-पुत्र सहदेव तक ४७ प्रमुख नरपति हो गये। जिन्होंने सत्ययुग, त्रेता एवं द्वापर युग में राज्य किया।....ये युधिष्ठिर को छोड़कर प्रत्येक युग के १६ प्रमुख नरेश हैं। सहदेव की मृत्यु कलि से ३६ वर्ष पहले ३१३७ खृ० पू० में महाभारत-युद्ध में हो गई। अतः, इन ४७ राजाओं ने ३५६४ (३६००—३६) वर्षों तक ही राज्य किया। कुरुक्षेत्र के महाभारत-युद्ध के बाद मगध में निम्नांकित वंश के राजाओं[1] ने इस प्रकार राज्य किया :

संख्या	वंशनाम	राजसंख्या	भुक्त वर्ष	खृ० पू०	कलि-संवत्
१.	बृहद्रथ	२२	१००१	३१३७—२१३६	क० पू० ३६—९६५
२.	प्रद्योत	५	१३८	२१३६—१९९८	९६५—११०३
३.	शिशुनाग	१२	३६२	१९९८—१६३६	११०३—१४६५
४.	नन्द	९	१००	१६३६—१५३६	१४६५—१५६५
५.	मौर्य	१२	३१६	१५३६—१२२०	१५६५—१८८१
६.	शुंग	१०	३०२	१२२०—९१८	१८८१—२१८३
७.	काण्व	४	४५	९१८—८७३	२१८३—२२१८
८.	आन्ध्र	३२	५०६	८७३—३६७	२२१८—२७३४
		१०६	२७७०	३१३७ से ३६७ खृ० पू०	क० पू० ३६ से २७३४ क० सं०
	महाभारत-पूर्व के राजा	४७	३५६४		
		१५३	६३३४ वर्ष		

मेगास्थनीज ने अपना भारत-वर्णन भारत से जाने के बाद लिखा। यह अभ्यन्तर-काल सिकन्दर महान् के काल तक का देता है, जिसका जन्म ३५६ खृ० पू० में हुआ या समुद्रगुप्त[2] के काल तक देता है, जिसे वह सन्द्राकुतस कहता है और जिसका जन्म ३४५ खृ० पू० में हुआ। अतः, हम डायोनिसस या बैकस का काल इस प्रकार निश्चित कर सकते हैं : (६६३४ + ३५६) ६९९० खृ० पू० या खृ० पू० ६९७९ (६६३४ + ३४५), जो मनु का काल है और जिसने ६७०१ खृ० पू० से ६६७१ खृ० पू० तक राज्य किया।

---

१. इण्डियन क्रोनोलॉजी, भवन, बम्बई, १९६३ ई०।

२. अनाल्स भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, भाग ४०, पृ० २५७।

महाभारत के अनुसार मनुष्य की आयु सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमशः ४००, ३००, २०० और १०० वर्ष है, तथा ये युग क्रमशः ४८००, ३६००, २४०० और १२०० देववर्षों के हैं। अतः, लेखक ने प्रत्येक युग का कालमान केवल १२०० मानकर सत्ययुग का आरम्भ ६७०१ खृ० पू० माना है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि ग्रीकों के वर्णन के अनुसार मनु का काल ठीक वही बैठता है, जो प्रकृत लेखक ने अपने इण्डियन क्रोनोलॉजी में दिया है। सिकन्दर का काल विवादास्पद नहीं है। यदि हम सिकन्दर का काल निश्चित मानकर गणना करते हैं, तो भारत के प्रथम राजा[1] मनु का काल ठीक-ठीक ज्ञात हो जाता है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि परम्परा के अनुसार महाभारत की जो युद्धतिथि ३१३७ वर्ष खृ० पू० मानी जाती है, वह एकदम ठीक है तथा सिकन्दर को मार भगाने का श्रेय गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त को है, जिसने सेल्यूकस को पराजित किया एवं उसकी सुन्दरी कन्या हेलना का पाणिपीडन किया तथा मेगास्थनीज ने उसकी सभा को राजदूत के रूप में सुशोभित किया। ●

चण्डीभवन,
लंका, वाराणसी-५

आचार्य उदयन का 'आत्मतत्त्वविवेक'

● **आचार्य परमानन्दन शास्त्री**

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज ने आचार्य उदयन की चर्चा करते हुए लिखा है : "न्याय और वैशेषिक के प्राचीनतम सम्प्रदायों के अन्तिम सर्वमहान् प्रतिनिधि निर्विवाद रूप में उदयनाचार्य रहे। जयन्त और वाचस्पतिमिश्र ने न्याय पर लिखा, जबकि श्रीधर ने वैशेषिक पर। मगर, दोनों ही परस्पर सम्बद्ध सम्प्रदायों को सर्वप्रथम एक संयुक्त रूप में मिलाने का श्रेय उदयनाचार्य को, परम्परानुसार दिया जाता है। और ये वही उदयनाचार्य थे, जिन्होंने दर्शन को ईश्वरवाद (थियोलॉजी) की सेवा में लगाते हुए अपने युग के निरीश्वरवादी प्रवृत्तियों को दूर करने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयास किया था। इनका **आत्मतत्त्वविवेक** और **न्यायकुसुमांजलि** नामक ग्रन्थ उन सभी ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ हैं, जो **आत्मवाद** और **ईश्वरवाद** के विरुद्ध बौद्धों की मान्यताओं का निराकरण करने और **आत्मवाद** और **ईश्वरवाद** के सम्बन्ध में तथ्यों को सुदृढ और सुस्थिर रूप में रखने के उद्देश्य से लिखे गये थे।"[2]

---

१. वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीद् महीक्षितामाद्यः प्रणवः छन्दसामिव ।। (कालिदास)

२. द्र० ग्लीनिंग्स फ्रॉम द हिस्ट्री ऐण्ड बिब्लियोग्राफी ऑव द न्याय वैशेषिक लिटरेचर, पृ० २०-२१।

उक्त सन्दर्भ में चर्चित ग्रन्थयुगल में **आत्मतत्त्वविवेक** की रचना **न्यायकुसुमांजलि** की रचना से पहले की स्पष्ट है। क्योंकि, उदयन ने स्वयं ही 'न्यायकुसुमांजलि' में ईश्वर-बोधक तर्कों को तर्काभास (अयुक्त तर्क) बतलाते हुए वैसे तर्कों की दोषाधायकता नहीं मानकर ईश्वरसाधक तर्क को तर्क मानते हुए उसमें 'कार्यलोप' की आशंका बतानेवाले तर्क को विभूषण ही माना है। और, इस कार्यलोप के प्रश्न के सन्दर्भ में स्पष्ट ही 'आत्मतत्त्व-विवेक' की चर्चा कर रखी है और कहा है : **एतच्च सर्वमात्मतत्त्वविवेके निपुणतरमुपपादितमिति नेह प्रतन्यते।**[१] अर्थात्, यह सारा-का-सारा ही 'आत्मतत्त्वविवेक' में अच्छी तरह प्रमाणित किया जा चुका है। इसलिए, वहाँ इसका पर्याप्त विस्तार नहीं किया जा रहा है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को हम पाठकों के बोधसौकर्य के लिए छह भागों में बाँटना पसन्द करेंगे। प्रथम भाग मंगलाचरणपूर्वक अवतरणिका है; द्वितीय भाग है क्षणभंगवाद-निराकरण; तृतीय भाग है वाक्यार्थभंगवाद-निराकरण; चौथा भाग है गुणगुणिभेदवाद-निराकरण; पाँचवाँ है अनुपलम्भिवाद-निराकरण और छठा है उपसंहार-भाग। इन छहों प्रकरणों में जिस बारीकी से आचार्य ने अपनी प्रखर तर्कबुद्धिता का प्रदर्शन किया है, वह उन्हीं के अनुरूप माना जायगा। तर्कशास्त्र-सदृश कर्कश विषय पर मुहावरेदार संस्कृत का प्रयोग कितना फबता है, इसे वस्तुतः इसके अध्येता विद्वान् ही जान सकते हैं। जो हो, इनकी सुस्पष्ट प्रतिपादन-शैली अपने-आप में परिपूर्ण है और अन्यत्र बहुत ही कम उपलब्ध होती है। अस्तु;

आत्मतत्त्वविवेक की अवतरणिका प्रस्तुत करते हुए आचार्य उदयन का कहना है कि इस संसार में सभी यह चाहते ही हैं कि दुःख नहीं हो और यह दुःख भी स्वभावतः प्रतिकूल स्वभाववाला हुआ करता है। किसी भी व्यक्ति को दुःख अनुकूल नहीं हुआ करता। और सुख-दुःख की परिभाषा के लिए शास्त्र की आवश्यकता नहीं---वह सार्वजनिक प्रतीतिगम्य होने के कारण सर्वविदित है ही। फिर, दुःख के निवारण का उपाय नहीं जानते हुए लोग शास्त्रों की शरण में जाया करते है। इन शास्त्रों में भी इस बात पर मतैक्य है कि एकमात्र तत्त्वज्ञान ही मोक्ष (दुःखहानि) का उपाय है, दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। फिर तो सबके लिए आत्मतत्त्व का ज्ञान आवश्यक हो जाता है; अतः यह **आत्मतत्त्वविवेक** लिखा जा रहा है।

तत्त्वज्ञान आत्मतत्त्वज्ञान के अतिरिक्त कुछ दूसरा हो ही नहीं सकता है, आचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **प्रतियोग्यनुयोगितया च आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेयः।** अर्थात्, किन्हीं के मत में प्रतियोगी के रूप में और किन्हीं के मत में अनुयोगी के रूप में आत्मा ही तत्त्वरूप से ज्ञेय होता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि दार्शनिकों की दो ही विधाएँ उपलब्ध हैं और हो भी सकती हैं दो ही विधाएँ। एक में आत्मतत्त्व को वस्तुरूप (वास्तव) माना जाता है, तो दूसरे में अवस्तुरूप (अलीक) और प्रथम कोटि में आत्मवादी आते हैं, तो दूसरी कोटि में अनात्मवादी। चूँकि, ग्रन्थकार आत्मवादी हैं, अतः परपक्ष के खण्डनोत्तर

---

१. न्या० कु०, स्तबक ५, कारिका ३।

आत्मपक्ष के स्थापन के उद्देश्य और औचित्य के कारण प्रथम अनात्मवादी पक्ष का विवेचन करना समुचित मान चुके हैं और 'प्रतियोग्यनुयोगितया' आत्मा को ज्ञेय बताया है। तात्पर्य यह कि बौद्ध नैरात्म्य ज्ञान को मोक्ष का साधन मानते हैं। उनके मत से शरीरादि से भिन्न आत्मा होती ही नहीं है। अतः, उनके मत में, अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान से उत्पन्न होने के कारण आत्मप्रतियोगिक अभाव के ज्ञान में प्रतियोगिभूत आत्मा का ज्ञान आवश्यक होगा ही। क्योंकि, जबतक आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, तबतक 'आत्मा नहीं है', यह ज्ञान हो ही नहीं सकता है। फलतः, बौद्धों के लिए आत्मज्ञान (प्रतियोगितामुखेन ही सही) आवश्यक है ही। और, जो आत्मज्ञान को मोक्ष का कारण माना करते हैं, वे शरीरादि से भिन्न रूप आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अतः, उनके मत में शरीरादिभिन्नत्व के अनुयोगी के रूप में आत्मा का ज्ञान आवश्यक होता ही है।

इसी बात को स्पष्ट करने के उद्देश्य से **भगीरथ ठाकुर** ने अपनी टीका 'जलद' में लिखा है कि :

शरीरादिभिन्न आत्मा नास्तीति नैरात्म्यार्थः। तथाच—बौद्धमते शरीरादिकमलीकादात्मनो भिन्नमिति प्रतियोगितया, सात्मकत्वपक्षे शरीरादेरात्मा भिन्न इत्यनुयोगितया आत्मावश्यं ज्ञेय इत्यर्थः (बिब्लोथिया संस्करण, पृ० १४)।

अर्थात्, नैरात्म्य का अर्थ है---शरीर आदि से भिन्न आत्मा होती ही नहीं। फिर तो बौद्धों के मत में शरीर आदि अलीक (अवास्तव) आत्मा से भिन्न है, इस तरह प्रतियोगी रूप से और सात्मकत्व (आत्मा को वास्तविक माननेवालों के) पक्ष में शरीर आदि से आत्मा भिन्न मानी जाती है, इसलिए अनुयोगी रूप से आत्मा अवश्य ज्ञातव्य बन जाती है।

यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि 'यस्याभावः स प्रतियोगी' और 'यत्राभावः सोऽनुयोगी', अर्थात्—जिसका अभाव कहा जाता है, वह प्रतियोगी है और जहाँ अभाव कहा जाता है, वह अनुयोगी है।

जैसे : 'इह भूतले घटो नाऽस्ति', अर्थात् इस भूतल में घड़ा नहीं है, इस वाक्य में अभाव घट का कहा गया है, अतः घट अभाव का प्रतियोगी हुआ। इसी तरह इस भूतल में घट का अभाव कहा गया है, अतः 'एतद् भूतल' घटाभाव का अनुयोगी कहा जायगा। और इस तरह, एतद्भूतलानुयोगिक घट-प्रतियोगिक अभाव का बोध उपर्युक्त वाक्य से होता है। इसी प्रकार, नैरात्म्यवादी बौद्धों के मत में 'शरीरादि से भिन्न आत्मा नहीं है', इस वाक्य से शरीरादि के अतिरिक्त आत्मप्रतियोगिक अभाव अभिप्रेत हुआ करता है, अतः अभाव के प्रतियोगी के रूप में आत्मज्ञान बौद्धों के लिए भी अपरिहार्य होता है और सात्मकपक्षी नैयायिक आदि के मत में शरीरादि आत्मा नहीं हैं, इस वाक्य से शरीरादि-प्रतियोगी के अभाव के आश्रय के रूप में आत्मा का होना अभिप्रेत होता है, अतः शरीरादि-प्रतियोगिक अभाव के अनुयोगी-स्वरूप आत्मा का ज्ञान अपरिहार्य है। फलतः, आत्मा को अलीक मानें

या वस्तुसत्, दोनों पक्षों के लोगों को किसी-न-किसी रूप में मोक्ष के लिए आत्मज्ञान अपरिहार्य होता ही है ।

इसी अर्थ को ग्रन्थकार ने **न्यायकुसुमांजलि** में स्पष्ट करने के लिए यह कारिका अवतरित की है :

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेषता ।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ।। (स्तवक ३, कारिका २)

अर्थात्, व्यावर्त्य (प्रतिषेध्य = अभावप्रतियोगी) की अभाववत्ता ही वस्तु की भाविकी विशेष्यता होती है और अभावाभावरूपता ही प्रतियोगिता है । जैसे : 'इस भूतल में घड़ा नहीं है', इस वाक्य में प्रतिषेध्य घट की अभाववत्ता ही भूतल में अधिकरणता-रूप विशेष्यता, अर्थात् विशेषणाश्रयता है और घटाभाव की अभावरूपता ही घट में प्रतियोगिता है ।

यहाँ अभाव पद से स्वभाव का परिग्रहण है, अतः अन्योन्याभाव-प्रतियोगितावच्छेदक में अतिव्याप्ति दोष होने को नहीं । क्योंकि, घटान्योन्याभाव-प्रतियोगितावच्छेदक जो घटत्व है, वह यद्यपि घटान्योन्याभावाभाव-रूप है अवश्य, मगर घटान्योन्याभाव का प्रतियोगी नहीं हो सकता है । क्योंकि, घटान्योन्याभाव को स्वाभावत्व है ही नहीं । यहाँ स्व पदार्थ है घटत्व, तत्प्रतियोगिक जो अभाव है घटत्वाभाव, वह घटान्योन्याभाव नहीं हैं । क्योंकि, अन्योन्याभाव के तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता के अभावस्वरूप होने के कारण घटाभाव में ही घटान्योन्याभावाभावत्व होगा, न कि घटत्वाभाव में । फलतः, उक्त दोष का निराकरण हो जाता है ।

इसी रहस्य को स्पष्ट करनेवाली दो कारिकाएँ पूर्वाचार्यों की मिलती है :

सुखी भवेयं दुःखी वा माभूवमिति तृष्यतः ।
यैवाहमितिधीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनम् ।। ।।
नैरात्म्यदृष्टिं मोक्षस्य हेतुं केचन मन्वते ।
आत्मतत्त्वधियं त्वन्ये न्यायतवानुसारिणः ।।२।।

अर्थात्, 'मैं सुखी होऊँ' या 'मैं दुःखी नहीं होऊँ', इस प्रकार की तृषा करनेवाले की 'मैं' इस प्रकार की जो बुद्धि है, वही स्वाभाविक आत्मदर्शन है । कुछ लोग नैरात्म्यदृष्टि को मोक्ष का हेतु माना करते हैं और दूसरे न्यायतत्त्व के अनुसारी जन आत्मतत्त्व के बोध को मोक्ष का कारण मानते हैं और उक्त दोनों ही पक्षों में स्वाभाविक आत्मज्ञान यद्यपि तत्त्वज्ञान-स्वरूप है अवश्य, तथापि उसके अनादिवेद्य भेदवासनारूप दोषजन्य होने के कारण अयथार्थ ज्ञान स्पष्ट है और जो लोग आत्मा को अलीक पदार्थ मानते हैं, उनके मत में तो स्पष्ट ही वह अयथार्थ ज्ञान है; अतः दोनों ही पक्षों में वादियों में मतैक्य है ही । फलतः, 'आत्मतत्त्वविवेक' ग्रन्थ का अवतरण सार्थक है ।

इन्हीं बातों को संक्षेप में अवतरणिका-रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्यचरण ने लिखा है :

इह खलु निसर्गप्रतिकूलस्वभावं सर्वजनसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः सर्व एव तद्धानोपायमविद्वांसोऽनुसरन्तश्च सर्वाध्यात्मविदेकवाक्यतया तत्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ति

न ततोऽन्यत् । प्रतियोग्यनुयोगितया च आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेयः । तथाहि—यदि नैरात्म्यम्, यदि वा आत्मास्ति वस्तुभूतः, उभयथापि नैसर्गिकमात्मज्ञानमतत्त्वज्ञानमेवेत्यत्रापि एकवाक्यतैव वादिनाम् । अत आत्मतत्व विविच्यते । (आ० त० वि०, पृ० १०)

अर्थात्, यहाँ तो स्वभाव से प्रतिकूल स्वरूप सभी लोगों के अनुभवसिद्ध दुःख के त्याग को चाहनेवाले सभी-के-सभी उस (दुःख) को त्यागने का उपाय नहीं जाननेवाले और (उसका) अनुसरण (खोज) करते हुए सभी शास्त्रों में ऐकमत्य रहने से तत्त्वज्ञान को ही दुःखज्ञान का उपाय सुना करते हैं, न कि उससे भिन्न कुछ । और, प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता से आत्मा ही तत्त्वरूप से ज्ञातव्य होता है । जैसे : यदि नैरात्म्य (वाद) है अथवा यदि आत्मा वस्तुरूप है, दोनों प्रकारों से स्वाभाविक आत्मज्ञान अतत्त्वज्ञान (तत्त्वज्ञान से भिन्न) ही (है), इसमें (सभी) वादियों की एकवाक्यता (मतैक्य) ही है । अतः, आत्मतत्त्व का विवेचन किया जा रहा है ।

और, इसके बाद आचार्य लिखते हैं कि :

तत्र बाधकं भवत् क्षणभङ्गो वा बाह्यार्थभङ्गो वा गुणगुणिभेदभङ्गो वा अनुपलम्भो वेति । (आ० त० वि०, पृ० २०)

अर्थात्, उसमें बाधक बननेवाला है, क्षणभंग या बाह्यार्थभंग या गुणगुणिभेद-भंग या अनुपलम्भ ।

आचार्य के इस प्रकार कथन का तात्पर्य यह है कि साधक और बाधक दो प्रकार के प्रमाण हुआ करते हैं, जिन्हें आधार मानकर किसी मत की स्थापना या खण्डन किया करते हैं । और, अधिक प्रबल बाधक प्रमाण रहने पर हजारों साधक प्रमाण विफल बन जाते हैं और बाधक प्रमाण के बल पर मत-स्थापना असम्भव हो जाती है । इसलिए, आचार्य पहले बाधक प्रमाणों का ही निर्देश करते हैं और पहले बताया जा चुका है कि दो ही विधाएँ दार्शनिकों की मुख्यतः हैं और उचित भी हैं और वे हैं, नैरात्म्यवादी दार्शनिक तथा आत्मवादी दार्शनिक । चूँकि, आचार्य स्वयं आत्मवादी हैं । इसलिए नैरात्म्यवादियों के प्रमाण इनके लिए बाधक प्रमाण-कोटि में आते हैं, अतएव नैरात्म्यवादियों के प्रमाण ग्रन्थकार के मत में बाधकस्वरूप उक्त चार ही प्रमाण आते हैं । अतः, इनका क्रमिक निराकरण करने के अभिप्राय से इन्हें क्रमशः उल्लिखित कर रखा है । ये हैं : १. क्षणभंग, २. बाह्यार्थभंग, ३. गुणगुणिभेदभंग, और ४. अनुपलम्भ ।

१. क्षणभंगवाद :

क्षणभंग, शब्द दो शब्दखण्डों से बना है । एक है क्षण और दूसरा है भंग । क्षण का अर्थ काल-विशेष होता है । जिसका लक्षण बंगाल के सुप्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ-शिरोमणि ने 'आत्मतत्त्वविवेक' ग्रन्थ की दीधिति टीका में इस प्रकार किया है : **स्वाधेयपदार्थप्रागभावानाधारः समयः ।** [आ० त० वि० (चौखम्बा), पृ० १९—२१]

अर्थात्, वह समय, जो स्व में आधेय के प्रागभाव का आधार नहीं हो । यहाँ आधेयत्व और आधारत्व दोनों ही कालिक सम्बन्ध से बाह्य समझना चाहिए, फलतः क्षण

का अर्थ हुआ—कालिकसम्बन्धावच्छिन्न स्वाधेयपदार्थ—निरूपित प्रागभावप्रतियोगित्वावच्छिन्न कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधारस्वरूप समय। और, क्षणे भङ्गो यस्यासौ क्षणभङ्गः, इस बहुव्रीहि समास के आधार पर क्षणभंग पद का अर्थ होगा—क्षणाधिकरणकारकभंगाश्रय, क्षणभंगुर, क्षणिक। और इस तरह, क्षणभंग का अर्थ हुआ—कालिकसम्बन्धावच्छिन्न स्वाधेयपदार्थनिरूपित प्रागभावप्रतियोगित्वावच्छिन्न कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधारत्वविशिष्ट कालाधिकरणक भंगाश्रयत्व। संक्षेप में, स्वाधिकरणसमयप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्व। और यहाँ वृत्तिता लेनी चाहिए सम्बन्धितारूप। फलतः, क्षणभंग वा क्षणिकत्व का लक्षण हुआ—स्वाधिकरणसमयप्रागभावाधिकरण-क्षणसम्बन्धित्व, और जो लोग प्रागभाव नहीं मानते, उनके मत से क्षणिकत्व होगा—स्वाधिकरणक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोग्यवृत्तित्व। सर्वत्र 'स्व' पद से क्षणिक रूप से अभिमत पदार्थ का ग्रहण करना चाहिए। इन लक्षणों की जटिलता और औचित्यानौचित्य शास्त्रीय गूढग्रन्थि होने के कारण यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है। उसके लिए प्राचीन टीकाएँ और उनके परिष्कार देखने चाहिए। मगर, सामान्य भाषा में जिसे क्षणमात्रस्थायित्व कहा जा सकता है, उस क्षणिकत्व से नैयायिकसम्मत आत्मा का नित्यत्व बाधित होता ही है। और, विना नित्यत्व के आत्मत्वसाधन व्यर्थ कर्म बन जायगा, अतः प्रथम कोटि में क्षणभंगवाद के निराकरण को रखा गया है। अब बौद्धों के मत से क्षणभंगवाद को लीजिए।

बौद्ध विद्वान् सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। क्षणिक का अर्थ उनके मत से सोत्पत्त्याश्रयकालमात्रवृत्तित्व माना जाता है। और 'सत्त्व' रूप हेतु को लेकर वे घट-पट प्रभृति पदार्थों का क्षणिकत्व अनुमान के द्वारा साधित करते हैं। जैसे : **पटः क्षणिकः, सत्त्वात्। यत् सत् तत् क्षणिकम्, यथा जलधरपटलम्।**

अर्थात्, पट क्षणिक है; क्योंकि उसमें सत्त्व है। और जो सत् हुआ करता है, वह क्षणिक होता है। जैसे : मेघपटल। और, यहाँ 'सत्त्व' का अर्थ नैयायिकों के प्रस्थान का सत्तासामान्ययोगित्व-रूप सत्त्व नहीं, प्रत्युत अर्थक्रियाकारित्व-रूप सत्त्व लिया जाता है।

इसे भली भाँति समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि 'सत्ता' और 'सत्' दोनों ही 'अस्' धातु का रूप है, जिसका अर्थ 'होना' है। 'होना' भवन, क्रिया का पर्याय है, जिसका दूसरा पर्याय होता है, उत्पत्ति। 'सत्' में कर्त्ता में शतृ रूप कृत् प्रत्यय है, अतः 'सत्' का अर्थ होता है—उत्पत्ति का आश्रय। उत्पत्त्याश्रयता सभी भावों--पदार्थों में दिखाई पड़ती है, अतः सभी भाव ही 'सत्' बनते हैं। और, उस 'सत्' का ही भाववाचक त्वप्रत्यान्त रूप 'सत्त्व' है, अतः उसका अर्थ होता है उत्पत्त्याश्रयत्व। प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वहेतुक इन सभी भावों में क्षणिकत्व स्वतः सिद्ध है, इसलिए सत्ता नामक पृथक् पदार्थ मानते हुए नित्य मानकर सत्ता सामान्ययोगित्वरूप सत्त्व की स्थिति मानना गौरवकारी होने से अयुक्त कहा जायगा।

मगर, यह उत्पत्त्याश्रयत्व-रूप सत्त्व अलीक पदार्थों में उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः, बौद्धों ने अर्थक्रियाकारित्व-रूप सत्त्व माना है। अर्थात्, जो अर्थ क्रियाकारी हो, उसे

सत् कहा जाता है। यहाँ अर्थ पदार्थ है, जिसकी आकांक्षा से जो प्रवृत्त होता है, वह (आकांक्षित) उसका अर्थ हुआ करता है। जैसे : जलाहरण की आकांक्षा से घट की प्रवृत्ति होती है, अतः जलाहरण घट का अर्थ हुआ। जलाहरण रूप अर्थक्रिया घट से सम्पन्न होती है, अतः घट में अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व संगत होता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जलाहरण-रूप अर्थक्रिया का सम्पादक होने के कारण घट को सत् मान लिया है। ठीक है, मगर 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' अर्थात् 'जो सत् होता है, वह क्षणिक हुआ करता है, इस व्याप्ति में क्या प्रमाण है ?

इस विषय में बौद्धों का उत्तर इस प्रकार है कि — 'अर्थक्रियाकारित्व-रूप यह पारिभाषिक 'सत्त्व' 'क्रम' और 'यौगपद्य' से व्याप्त है। अर्थात्—'यत्र यत्र अर्थक्रियाकारित्वं तत्र तत्र क्रमयौगपद्यान्यतरसद्भावः।' अर्थात्, जहाँ-जहाँ अर्थक्रियाकारित्व रहता है, वहाँ-वहाँ क्रम या यौगपद्य दोनों में एक अवश्य रहेगा ही। क्योंकि, यह तो मानी हुई बात है कि अर्थक्रियाओं का सम्पादन या तो 'क्रम' से होगा या 'यौगपद्य' से। यहाँ 'क्रम' शब्द का अर्थ नियत रूप से पूर्वापरभाव और 'यौगपद्य' का अर्थ अनेक अर्थक्रियाओं का एक क्षण-सम्बन्ध समझना चाहिए। फिर तो अक्षणिक (नित्य) घट में उक्त अर्थक्रियाकारित्व-रूप सत्त्व उत्पन्न हो ही नहीं सकता है; क्योंकि 'व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिः', अर्थात् व्यापक की निवृत्ति हो जाने से व्याप्य की निवृत्ति आनुषंगिक रूप से हो जाया करती है, ऐसा निश्चित सिद्धान्त है। और, इस सिद्धान्त के अनुसार क्रमयौगपद्यान्यतर-सम्बन्धित्व-रूप व्यापक धर्म के अनुपपन्न होने से व्याप्य धर्म अर्थक्रियाकारित्व भी अनुपपन्न ही हो जायगा; क्योंकि अर्थक्रियाकारित्वेन 'सत्' घट को अगर नित्य मानते हैं, तो चाहे उसे क्रमशः अर्थक्रियाकारी मानें या युगपत् अर्थक्रियाकारी मानें, दोनों ही स्थितियों में अर्थक्रियाकारित्व और अर्थक्रियाकारित्वभाववत्त्व दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म घट में आपन्न हो जायगा। क्योंकि, जिस क्षण में वह अर्थक्रियाकारी होगा, उस क्षण के अतिरिक्त क्षण में वह अर्थक्रिया का 'अकारी' भी होगा ही। और, जब हम क्षणिक मानते हैं, तब क्षणिक घट अर्थक्रियाकारी रूप में ही आयगा, अकारी रूप में नहीं। क्योंकि, द्वितीय क्षण में तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहने से 'घटोऽयम् अर्थक्रियाकर्त्तृत्वाभाववान्' यह प्रतीति अर्थक्रियाकारी घट के सम्बन्ध में हो ही नहीं सकती है। फलतः, सत् पदार्थों की क्षणिकत्व-भावना ही युक्तिसंगत है। विशेष जानकारी के लिए बौद्धदर्शन-ग्रन्थों का क्षणभंगवाद-प्रकरण देखना चाहिए।

२ बाह्यार्थभंगवाद :

ऊपर क्षणभंगवादी बौद्धों का मत बताया जा चुका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इन वैभाषिक बौद्धों के मत में बाह्य जगत् की सत्ता तो मानी जाती है, मगर वह बिलकुल ही क्षणिक। इनके मत से इस बाह्य सत्तावाले संसार का ज्ञान हमें प्रत्यक्षतः भी होता है और अनुमानतः भी। इसलिए बाह्य सत्ता की चित्तनिरपेक्षता और चित्तसापेक्षता दोनों ही विशेषता विभाषावादी बौद्ध मानते हैं। सौत्रान्तिक बौद्ध बाह्य सत्तात्मक संसार का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, प्रत्युत अनुमान से बताते हैं और इस तरह बाह्य सत्ता की चित्तसापेक्षता-

रूप एकमात्र विशेषता मानते हैं। इन दोनों ही बौद्धों का उत्तर आचार्य उदयन ने क्षणिकत्ववाद-निराकरण-प्रकरण में दे रखा है।

मगर, बौद्धों का एक विज्ञानवादी समाज है, जो बाह्य सत्ता को मानता ही नहीं है। उसके मत में चित्त में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहता है और ये उदित होनेवाले विज्ञान आपस में एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी विज्ञानसन्तति-स्वभाव से एक दूसरे से सम्बद्ध रहा करते हैं। फिर भी, सभी स्वतन्त्र होते हैं। ये विज्ञ एवं प्रकाश हुआ करते हैं। इनके मत में बाह्य जगत् की सत्ता रहती ही नहीं है। चित्त-सन्तति ही नील-पीत आदि आकारों से प्रतिभाषित ज्ञानाकारात्मक भाव से ज्ञात हुआ करती है, जो क्षणिक होंने के कारण विनाशशील ज्ञान-विज्ञान कहे जाते हैं।

इन विज्ञानवादियों के मत में बाह्य अर्थ की सत्ता रहती ही नहीं है, अतः इनका नय बाह्यार्थभंगनय कहा गया है और इनके तर्कों का खण्डन आचार्य उदयन ने दूसरे प्रकरण बाह्यार्थभंगवाद—निराकरण में किया है।

३. गुणगुणिभेदभंगवाद :

तीसरे बाधक के रूप में आचार्य ने गुणगुणिभेदभंगवाद को लिया है। नैरात्म्यवादी समाज का एक वर्ग ऐसा है, जो गुण और गुणी में भेद नहीं मानता है। क्योंकि, स्वरूप-सम्बन्ध ही सर्वत्र उपपन्न होने के कारण समवायरूप सम्बन्ध अतिरिक्त मानना गौरवजनक होता है। जैसे : गन्ध गुण और गन्धात्मक पृथिवी-द्रव्य दोनों में पार्थक्य मानने की अपेक्षा तादात्म्य मान लेना ही लाघवकर होगा। और इस प्रकार, विज्ञानाकारक आतमा को मान लेने से विज्ञानातिरिक्त आत्मा नहीं मानना पड़ता है, यह बहुत बड़ा लाघव है। और, ज्ञानाकारक विज्ञानस्वरूप आत्मा मान लेने से आत्मा भी क्षणिक बन जाता है। अतः, 'सर्वं क्षणिकम्' यह सिद्धान्त भी अक्षुण्ण रह जाता है।

आचार्य ने इस बाधक का निराकरण गुणगुणिभेदभंगवाद-निराकरण-प्रकरण में किया है।

४. अनुपलब्धिवाद :

अब रहा चौथा बाधक अनुपलब्धिवाद। बौद्धों का कहना है कि आतमा है नहीं; क्योंकि वह उपलब्ध नहीं होता है; जिस प्रकार खरगोश के सींग; यानी जिस प्रकार उपलब्ध नहीं होने के कारण खरगोश के सींग को अलीक पदार्थ के रूप में मानते हैं। उसी प्रकार आत्मा को भी अलीक पदार्थ के रूप में अगर मानते हैं, तो नैरात्म्यवाद स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

अतः, आचार्य ने 'आत्मतत्त्वविवेक' में बाधक उपर्युक्त चारों प्रमाणों का सविस्तर और तर्कपूर्ण खण्डन करते हुए साधक प्रमाण के रूप में पहले प्रथम प्रमाण प्रत्यक्ष को ही प्रस्तुत किया है और विशदता से यह प्रमाणित कर दिया है कि न्यायानुसारी मोक्ष क्या है और उसका साधन भी क्या है?

यहाँ यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि नैयायिक ज्ञान, सुख आदि का अधिकरण शरीरादिभिन्न नित्य आत्मा मानते हैं, और क्षणिकत्ववाद आत्मा के नित्यत्व का बाधक बनकर उपस्थित हुआ था। इसी प्रकार, बाह्यार्थभंगवाद आत्मा के ज्ञानाश्रयत्व में और गुणगुणिभेदभंगवाद ज्ञान, सुख आदि के आश्रयत्व में प्रबल बाधक बना था। अनुपलम्भवाद तो आत्मा के शरीर आदि से भिन्न होने में बाधक था। अतः, नैयायिकों के लिए इन चारों बाधकों और उनके पोषक तर्कों का खण्डन कर साधक प्रमाणों और युक्तियों से आत्मा और उसके स्वरूप का साधन परमावश्यक था, जिसे आचार्य ने बहुत ही सूक्षता से उपपादित किया है।

नैरात्म्यवाद और उसका रहस्य :

भारतीय दर्शन के क्रमिक विकास का इतिहास जाननेवाले प्रायः प्रत्येक विद्वान् को सामान्यतः यह ज्ञान होना ही चाहिए कि व्यवहारमूलक पदार्थों की ही आवश्यक मान्यता प्रमाणित हुआ करती है। फिर तो 'आँखों से देखा', 'कानों से सुना', 'मन से सोचा', 'शरीर में पीडा से दुःख और स्वस्थता से सुख अनुभव किया'—इत्यादि नाना प्रकार के सर्वजनीन व्यवहारों से जिस प्रकार क्रिया-कर्त्ता-करण-सम्बन्ध के आधार पर आँख, कान, मन और शरीर आदि से अलग द्रष्टा-श्रोता-चेतयिता और अनुभविता का भान करते हैं; वह स्पष्ट नहीं कहता कि शरीरादि से भिन्न कोई अलग आत्मा है; क्योंकि हम यह देखते हैं कि 'खम्भों पर घर टिका है', 'डालों से पेड़ फैला है' आदि अनन्तानन्त ऐसे भी अबाधित व्यवहार हैं, जिनसे अगर हम खम्भों से अलग घर और डालों से अलग पेड़ को कहना शुरू कर दें, तो हमें लोग पागल ही समझेंगे। इसलिए, जब अवयव से समुदाय का व्यपदेश होना व्यवहारसिद्ध है, तब शरीरादि से अलग आत्मा का मानना अतर्कसंगत होगा। फलतः, औपनिषदिक नैरात्म्यवाद को बौद्धों ने वस्तुतः व्यापक विस्तार में ला दिया। क्योंकि, बौद्ध पदार्थ हमारी समझ में **बुद्धौ व्यवस्थितो बौद्धः**, अर्थात् बुद्धिसंगत बातों को ही माननेवाला होता है। यही कारण है कि मैत्रायणी उपनिषद् में स्पष्ट मिलता है कि :

नैरात्म्यवादकुहकैः मिथ्यादृष्टान्तहेतुभिः।
भ्राम्यन् लोको न जानाति वेदविद्यान्तरं तु यत्॥ (मैं० उप०, ७।८)

अर्थात्, नैरात्म्यवाद की माया में मिथ्यादृष्टान्त और हेतुओं द्वारा भ्रम में पड़ा हुआ समाज वेदविद्या के रहस्य को नहीं समझ पा रहा है।

तात्पर्य यह कि नैरात्म्यवादी समाज भ्रम में पड़कर असद् दृष्टान्त को ही सद्दृष्टान्त माना करता है, और असद्हेतु को सद्हेतु।

संक्षेप में, अप्रतिष्ठ तर्क का सहारा लेनेवाला दार्शनिक नैरात्म्यवादी हुआ करता है और सुप्रतिष्ठ तर्क का सहारा लेनेवाला आत्मवादी। यही कारण है कि दोनों पक्षों के विद्वान् अपनी-अपनी बुद्धि से समर्थक दृष्टान्त और हेतु बराबर प्रस्तुत करते जा रहे हैं और अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापा करते हैं।

हाँ, तो यह देखा जाता है कि आत्मा से सम्बद्ध यावतो व्यपदेश इन्द्रियसहकारेण

देहसहकारेण वा हुआ करते हैं, तीसरा कोई प्रकार नहीं होता। अतः, देहादि संघात को ही आत्मा मानते हुए बौद्ध समाज पृथक् आतमा नामक पदार्थ मानने से सदा हिचकता आया है।

बौद्ध वाङ्मय के अनुसार, संसारी जीवों के दुःखों को ही 'स्कन्ध' मानते हुए उसे रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार इन पाँच भागों में बाँटा गया है।

शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पाँच पदार्थ घट-पट आदि रूप से बुद्ध्युपारूढ हुआ करते हैं। अतः, ये पाँचों विषय और इसके बुद्ध्युपारोह सहकारी इन्द्रिय-वर्ग 'रूपस्कन्ध' में आते हैं।

'यह घड़ा है'—इस प्रकार के विषयनिष्ठ ज्ञान प्रवृत्ति के प्रयोजक होने के कारण प्रवृत्ति-विज्ञान कहलाते हैं और—'मैं जानता हूँ'—इस प्रकार के ज्ञान आश्रयनिष्ठ ज्ञान आलयविज्ञान कहे जाते हैं। और, उक्त इन दोनों विज्ञानों का प्रवाह विज्ञानस्कन्ध माना जाता है।

उपयुर्क्त रूप-स्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध—इन दोनों ही स्कन्धों से सम्बन्ध होने के कारण उत्पन्न जो सुख-दुःख आदि प्रत्यय का प्रवाह है, वह वेदना-स्कन्ध होता है। 'गाय' आदि शब्दों से उल्लिखित होनेवाली संवित् के प्रवाह को संज्ञा-स्कन्ध कहते हैं। और वेदना-स्कन्ध-जन्य राग-द्वेष आदि, मान-मद आदि और धर्म-अधर्म को संस्कार-स्कन्ध कहते हैं। इन पाँचों स्कन्धों से भिन्न कोई आत्मा नामक पदार्थ बौद्ध नहीं मानते हैं।

बौद्धों का स्पष्ट तर्क यह है कि यावतो जगद्व्यवहारों को पञ्चस्कन्धवाहक के आधार पर उपपन्न सिद्ध कर देना जब तर्कबल से सम्भव है, तब अलग आतमा नामक पदार्थ मानने से क्या लाभ ?

यही है, संक्षेप में नैरात्म्यवाद का रहस्य। नहीं तो बौद्धदर्शन-ग्रन्थों के आधार पर बौद्धों को वस्तुतः आरम्भ से नैरात्म्यवादी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि भगवान् बुद्ध की सम्बोधिलाभोत्तर वाणी—'अनेकजातिसंसारम्' आदि गाथाएँ भगवान् बुद्ध को नैयायिकों के ही समान, सामान्य विसदृशरूप में, आतमवादी बता रही हैं।

साथ ही, **उद्योतकर** ने एक सर्वथा लुप्त 'सर्वाभिसमयसूत्र' नामक बौद्धग्रन्थ का हवाला देते हुए जो वह बुद्धवाणी उद्धृत की है :

भारं वो भिक्खवो देशयिष्यामि। भारहारञ्च।
भारः पञ्चस्कन्धाः। भारहारश्च पुद्‌गल इति।
यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवति। (न्यायवार्त्तिक)

अर्थात्, भिक्षुओ ! आपको मैं भार बताऊँगा और भारहार भी। भार पाँच स्कन्ध हैं और भारहार पुद्‌गल है। जो आतमा नहीं है, यह कहता है, वह 'गलत निगाहवाला' (मिथ्यादृष्टिक) हुआ करता है। (इस सम्बन्ध में लेखक का 'आत्मा और पुनर्जन्म के पक्के पुजारी भगवान् बुद्ध' नामक निबन्ध देखना चाहिए।)

यह अब स्पष्ट हो गया होगा कि आत्मवादी नैरात्म्यवाद का खण्डन तर्कों द्वारा ही करते हैं और नैरात्म्यवादी भी अपने पक्ष का समर्थन तर्कों के बल पर ही किया करते हैं।

यहाँ एक उदाहरण देकर स्पष्ट करना अनवसरोचित नहीं, प्रत्युत आगे के विचारों को समझने में सहायक ही होगा। अस्तु :

न्यायवार्त्तिककार **आचार्य उद्योतकर** ने लिखा है : **'स नास्ति अजातत्वादित्येके। नास्ति आत्मा अजातत्वात्। शशविषाणवदिति।** अर्थात्, आत्मा नहीं है। अजातत्व हेतु से। जैसे : खरगोश के सींग। एक नैरात्म्यवादी के उक्त तर्क से यह अभिप्राय निकलता है कि जैसे उत्पत्ति नहीं होने के कारण 'खरगोश के सींग' को अलीक पदार्थ के रूप में माना जाता है वैसे ही आत्मा भी अलीक माना जाय। क्योंकि, उसकी भी उत्पत्ति नहीं होती है। नैरात्म्यवादी यह तर्क इसलिए उपस्थित करता है कि वह जानता है कि आत्मवादी दार्शनिक भी आत्मा की उत्पत्ति नहीं मानते हैं; क्योंकि उत्पत्ति मान लेने से आत्मा का नित्यत्व ही नष्ट हो जायगा। फिर, **अजातत्वसाधर्म्यात् शशश्रृंगवत्** आत्मा का अलीकत्व-साधन सर्वथा सुगम होता है।

मगर, आत्मवादी नैयायिकों के मत से यह तर्क सर्वथा सदोष होने के कारण कुतर्क और दृष्टान्त सदोष होने के कारण कुदृष्टान्त स्पष्ट है। क्योंकि, भावभिन्नत्वे सति प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञानविषयत्व-रूप ही अभावत्व माना जाता है। अतः, अभाव का प्रतियोगी जो आत्मा है, उसके ज्ञान के विना आत्मप्रतियोगिक अभाव, अर्थात् 'आत्मा नहीं है', यह अभाव जाना ही नहीं जा सकता है। फिर तो जिस पदार्थ की सत्ता ही नहीं हो और किसी भी देश या काल में जो ज्ञान नहीं हो, उसका अभाव बोध का विषय बन ही नहीं सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'आत्मा नहीं है', यह प्रतिज्ञावाक्य ही संगत प्रतिज्ञावाक्य नहीं हो सकता है। अगर 'गूलर के फूल' की तरह अलीक पदार्थ के रूप में आत्मा को सर्वथा और सर्वदेश-सर्वकाल में सत्ताहीन माना जाय, तो अप्रसिद्धपक्षक हेतु होने के कारण 'अजातत्व' रूप हेतु ही आश्रयासिद्धित्वदोष-दुष्ट होने के कारण हेत्वाभाव बन जायगा। जैसे कि आकाशकमल सुगन्धिमान् है। कमलत्व के कारण। जैसे—सरोवर का कमल। इस वाक्य में कमलत्व रूप हेतु से आकाशकमल में सुगन्धिमत्ता का अनुमान नहीं होता है। क्योंकि, कमल में जब आकाशीयत्व का अभावज्ञान निश्चित है तब सुगन्धिमत्त्वव्याप्यकमलत्ववान् आकाश कमल है, ऐसा परामर्श ही जब नहीं हो सकेगा, तब तादृश परामर्शजन्य अनुमान स्वतः ही नहीं हो सकेगा। और, इस सन्दर्भ में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'खरगोश के सींग' का अभाव अलीकप्रतियोगिक अभाव नैयायिक नहीं मानते, बल्कि 'शशश्रृङ्ग नास्ति' इस वाक्य से शशाधिकरणक श्रृंग-सम्बन्ध-प्रतियोगिक अभाव ही बोध-विषय होता है, जिसमें 'शश' और 'श्रृंग' पृथक्-पृथक् प्रसिद्ध हैं ही। और 'गाय' आदि प्राणियों में श्रृंग-सम्बन्ध एवं शश में लांगूल आदि सम्बन्ध भी प्रसिद्ध है। केवल अप्रसिद्ध है शशाधिकरणक श्रृंग-सम्बन्धी सत्ता, जिसका निषेध 'शशश्रृङ्ग

नास्ति' इस वाक्य से किया जाता है । इसलिए, यदि सर्वथा अस्तित्वहीन आत्मा के अभाव का साधन अभिप्रेत हो, तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में भेद होने के कारण यह दृष्टान्त हो ही नहीं सकता है ।

इसी तरह 'अजातत्व' हेतु भी आत्मा के सम्बन्ध में नैयायिकों के मत से उपपन्न नहीं होता है ; क्योंकि 'अजातत्व' का अर्थ 'जन्मरहितत्व' है। और आत्मा का स्वरूपतः जन्म नहीं होने पर भी सर्वथा जन्मराहित्य नहीं होता; क्योंकि अभिनव देहादि के साथ आत्मा का प्राथमिक सम्बन्ध ही जन्म कहा जाता है और जब प्रमाणमूलक आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है, तब स्वरूपतः जन्मराहित्य-रूप हेतु से उसका अभाव साधित नहीं हो सकता है। इस तरह, संक्षेप में यह स्पष्ट हो जाता है कि नैरात्म्यवादियों के तर्क तार्किक कसौटी पर खरे नहीं उतर पाते हैं। अब उद्योतकर-उल्लिखित एक और उदाहरण बौद्ध-कुतर्क का ही लें । न्यायवार्त्तिक में नैरात्म्यवादी का एक दूसरा तर्क इस प्रकार उद्योतकर ने उपस्थित किया है कि—**अपरे तु जीवच्छरीरं निरात्मकत्वेन पक्षयित्वा सत्त्वादित्येवमादिकं हेतुं ब्रुवते ।** अर्थात्, दूसरे नैरात्म्यवादी जीवत्-शरीर को निरात्मकत्व से पक्ष बनाकर 'सत्त्व' आदि हेतु बनाते हैं ।

तात्पर्य यह कि ये नैरात्म्यवादी इस प्रकार का अनुमान-वाक्य उपस्थित करते हैं कि जीवित व्यक्ति का शरीर निरात्मक होता है ; क्योंकि उसमें सत्ता होती है और जो सत् होता है, वह निरात्मक भी होता है । जैसे : घट, पट आदि यावतो पदार्थ । फिर, जब वस्तुमात्र **ही** निरात्मक है, तब जीवित व्यक्ति का शरीर भी निरात्मक होगा ही ।

इस तर्क का खण्डन करते हुए आचार्य **उद्योतकर** का तर्क है कि निरात्मक शब्द का अर्थ क्या है ? आत्मा का अनुपकारी या आत्मप्रतियोगिक अभाववान् ? पहला अर्थ नहीं मान सकते ; क्योंकि संसार में आत्मा का अनुपकारी कोई भी पदार्थ नहीं रहने से दृष्टान्त ही नहीं मिल सकेगा । फिर, दृष्टान्तहीन तर्क की मान्यता कैसे ? और, अगर दूसरा अर्थ मानें, तो प्रतियोगितया आत्मा की सत्ता माननी ही पड़ेगी । जिस प्रकार, 'घर में घड़ा नहीं है' कहने से अन्यत्र घट की सत्ता प्रतीत हुआ करती है, उसी प्रकार 'जीवत्-शरीर निरात्मक है' कहने से अन्यत्र **आत्मा की सत्ता भासित होकर रहेगी** । फिर, तो आत्मा का अलीकत्व-साधन कथमपि सम्भव नहीं है । और, इसी परम्परा में हमारे उदयनाचार्य भी हुए हैं । अतः, **आत्मतत्वविवेक** में पहले आत्मसत्ता में साधक तर्कों की खिल्ली उड़ाने की दृष्टि से **तद् बाधकं भवद् आत्मनि क्षणभङ्गो वा ? वाह्यार्थभङ्गो वा ! गुणगुणिभेदभङ्गो वा अनुपलम्भो वा ?** इत्यादि रूप से शास्त्रार्थ का अवतरण किया गया है ।●

मन्दीरी, पटना-१

हिन्दी में कारकवाद

● डॉ० ओमप्रकाश गुप्त

१. हिन्दी के निम्नांकित विश्लिष्ट-व्याकरणिक प्रत्यय हिन्दी-व्याकरण की पुस्तकों में समस्या तथा चर्चा का विषय रहे हैं :

—ने; —को; —से; —में; —के;

—का, —के, —की; —पर; —तक; —० (शून्य)।

२. विभिन्न वैयाकरणों ने इन प्रत्ययों के लिए इन तीन नामों का प्रयोग किया है : विभक्ति, कारक-चिह्न और परसर्ग। इन प्रत्ययों का प्रयोग पदों के पश्चात् होता है। ये प्रत्यय पदों के साथ मिलाकर भी लिखे जाते हैं और उनसे अलग भी। उच्चारण में भी यदि पद के पश्चात्, थोड़े विराम के बाद इनका प्रयोग हो, तो भी अर्थ में कोई विकार नहीं होता। जैसे :

/ रामने काम किया /

अथवा

/ राम ने काम किया /।

३. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी इन्हें 'विभक्ति' कहना उपयुक्त समझते हैं। उनके शब्दों में "कुछ लोग हिन्दी की 'ने', 'को' आदि विभक्तियों को परसर्ग कहते हैं। यह एक नया अड़ंगा, नई झंझट ! 'विभक्ति' शब्द हमें परम्परा से प्राप्त है, प्रसिद्ध है। उसकी जगह परसर्ग चलाना किस काम का ? क्या लाभ ?"[१] उनके मतानुसार, "......कारक विभिन्न विभक्तियों से प्रकट होते हैं..........कारक के साथ लगनेवाली विभक्ति को कारक-विभक्ति कहते हैं।"[२] अर्थात्, विभक्तियों का कार्य कारकों को प्रकट करना है। कारकों का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि "क्रिया के साथ जिसका सीधा सम्बन्ध हो, उसे कारक कहते हैं।"[३]

पण्डित कामताप्रसाद गुरु के अनुसार, "संज्ञा (या सर्वनाम) के जिस रूप से उसका सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है, उसे कारक कहते हैं।.....कारक सूचित करने के लिए संज्ञा या सर्वनाम के आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं, उन्हें विभक्तियाँ कहते हैं। विभक्तियों के योग से बने हुए रूप विभक्त्यन्त शब्द वा पद कहलाते हैं।"[४]

---

१. हिन्दी-शब्दानुशासन, पृ० १७१।
२. वही, पृ० १४०।
३. वही, पृ० २१६।
४. हिन्दी-व्याकरण : पं० कामताप्रसाद गुरु, पृ० २१६।

स्पष्ट ही, पं० किशोरीदास वाजपेयी और पं० कामताप्रसाद गुरु की कारक-सम्बन्धी परिभाषाओं में भिन्नता है। दूसरी परिभाषा हिन्दी-व्याकरण की दृष्टि से आवश्यक थी।

४. वास्तव में 'विभक्ति' शब्द संस्कृत-व्याकरण का है। वहाँ विभक्ति उस रूप का नाम है, जो अर्थ-तत्त्व को वाक्य में प्रयोगार्ह बनाने के लिए आवश्यक है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में/**बालक**/को वाक्य में प्रयोगार्ह बनाने के लिए निम्नांकित रूप होते हैं :

बालक, बालको, बालकों।

उक्त रूपों (संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'विभक्तियों') की सिद्धि के लिए क्रमशः —० (शून्य),—ओ,—ओं प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। ये संश्लिष्ट व्याकरणिक प्रत्यय हैं। हिन्दी में ऐसे प्रत्यय अर्थ-तत्त्व के साथ जुड़कर तथा कभी-कभी अर्थ-तत्त्व में परिवर्त्तन करके, उसे वाक्य में प्रयोग की क्षमता प्रदान करते हैं। लेकिन, हिन्दी में ऐसे प्रत्ययों के पश्चात् भी ने, —को आदि चिह्नों के प्रयोग की अपेक्षा रहती है।

५. डॉ० बाबूराम सक्सेना का कथन है कि "संज्ञा, सर्वनाम एवं विशेषण के रूपों को 'विभक्ति' कहते हैं। और, क्रिया के साथ विभक्तियों के सम्बन्ध को कारक कहते हैं... यदि किसी क्रिया के साथ किसी विभक्ति का सम्बन्ध न हो, तो उस विभक्ति को कारक न कहेंगे।....इसीलिए, संस्कृत में षष्ठी को कारक नहीं माना जाता।"[१] निःसन्देह, हिन्दी के ये विश्लिष्ट प्रत्यय क्रिया के साथ विभक्ति का सम्बन्ध प्रकट करते हैं, जैसा कि निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट है :

रामने रावण को तीरसे मारा।

तो फिर, इन्हें 'कारक-चिह्न' क्यों न कहा जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ये प्रत्यय केवल क्रिया के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करते, अन्य व्याकरणिक कोटियों का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट करते हैं।

मैं रामके साथ वहाँ गया।

उक्त वाक्य में —के प्रत्यय राम (संज्ञा) और साथ (अव्यय) के मध्य सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। यह अलग बात है कि 'राम के साथ' पूरा वाक्यांश क्रिया का पूरक बनकर प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार, 'राम का हाथ' में '—का' दो संज्ञा-पदों के मध्य सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। **घर से स्कूल तक दो मील की दूरी है**—वाक्य में —से और —तक का सीधा सम्बन्ध क्रिया के साथ नहीं है। इसी प्रकार, उदाहरण (१) में '—के साथ' का प्रयोग कुछ इस ढंग से हुआ है कि अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए —के और साथ का प्रयोग एक इकाई के रूप में हुआ है। इस समस्या की विशेष चर्चा प्रकरण (७) में की गई है।

६. समस्या और भी उलझ जाती है, जब हम देखते हैं कि एक ही रूप (संस्कृत-व्याकरणानुसार विभक्ति) क्रिया के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के लिए प्रक्युत होता है।

---

१. भाषाविज्ञान : डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० ८२।

लड़कों ने पानी पिया, **लड़कों को** पानी पिलाया गया, **लड़कों का** पानी औरों को न पिलाओ, **लड़कों के लिए** पानी लाओ, **लड़कों के द्वारा** पानी पिलाया गया—वाक्यों में एक ही रूप (लड़कों) भिन्न अर्थों के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। निष्कर्ष यह कि हिन्दी में 'कारक' और 'विभक्ति' के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए हम कोई निश्चित नियम नहीं खोज पाते। यथानिर्दिष्ट तीन वाक्यों में —को प्रत्यय क्रमशः कर्तृ-विषयक, कर्म-विषयक तथा कालवाचक क्रियाविशेषण को क्रिया से सम्बद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुआ है :

१. आवेदक **को** ड्रिलिंग मशीन पर काम करना होगा।

२. अमेरिका भारत **को** सहायता देगा।

३. शाम **को** सैर चलेंगे।

इस प्रकार, इन प्रत्ययों का कार्य विभक्ति और कारक दोनों से कहीं अधिक व्यापक है।

७. ये प्रत्यय संज्ञा, सर्वनाम, क्रियार्थक संज्ञा, संज्ञावत् प्रयुक्त विशेषण-पदों के साथ ही नहीं, समय और स्थानवाचक अव्ययों के साथ भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे : जब से, कब से, यहाँ से, जहाँ पर, कहाँ की। इन प्रत्ययों के साथ अव्यय का प्रयोग प्रायः ऐसी संरचना करता है कि संयुक्त रचना एक इकाई के रूप में प्रयुक्त होती है। उदाहरणार्थ : —के लिए,—की ओर से,—के यहाँ,—के साथ,—से हटकर,—को लेकर इत्यादि। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि 'कारकवाद रूढि और मुहावरे की सरहद पर प्रतिष्ठित है।' इन प्रत्ययों के इसी व्यापक प्रयोग को देखते हुए श्रीकामताप्रसाद गुरु को कहना पड़ा कि "शब्दों के सभी प्रकार के सम्बन्ध सूचित करने के लिए कारकों की संख्या क्यों न बढ़ाई जाय ? यदि 'नहाने को' कारक माना जाता है, तो 'नहाने के लिए' को भी कारक मानना चाहिए।"[१] परन्तु, कारकों की संख्या बढ़ा देने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि इन प्रत्ययों द्वारा द्योतित सम्बन्धों की सीमा बाँधना एक असम्भव कार्य है। श्रीकामताप्रसाद गुरु स्वयं मानते हैं कि ".....इनको सम्बन्ध-सूचक मानने से संज्ञाओं की प्रचलित कारक-रचना की रीति में हेर-फेर करना पड़ेगा, जिससे बड़ी गड़बड़ उत्पन्न होगी।"[२]

८. उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इन प्रत्ययों को 'विभक्ति' अथवा कारक-चिह्न कहने की अपेक्षा परसर्ग कहा जाय। यों, कहा जा सकता है कि 'शब्द' के अन्त और परसर्ग के पूर्व प्रयुक्त होनेवाला संश्लिष्ट-व्याकरणिक प्रत्यय तो विभक्ति-प्रत्यय है; इसी प्रत्यय के योग से शब्द 'पद'-रूप में प्रस्तुत होता है। इसके पश्चात् जो विश्लिष्ट प्रत्यय प्रयुक्त होता है, वह 'परसर्ग' है। परसर्ग चरम प्रत्यय है। चरम प्रत्यय से अभिप्राय उस प्रत्यय से है, जिसके पश्चात् कोई अन्य प्रकार का प्रत्यय प्रयुक्त नहीं हो सकता।

---

१. हिन्दी-व्याकरण : पं० कामताप्रसाद गुरु, पृ० २३४।

२. नागरी-प्रचारिणी-लेखमाला ; पं० कामताप्रसाद गुरु तथा श्रीरामचन्द्र वर्मा, पृ० १५३।

९. परसर्गों का 'अव्ययों' के साथ प्रयोग : हिन्दी में चार प्रकार के अव्यय पाये जाते हैं : १. क्रियाविशेषण, २. सम्बन्धसूचक, ३. समुच्चयबोधक और ४. विस्मय-बोधक । इनमें से अन्तिम दो प्रकार के अव्ययों के साथ किसी परसर्ग का प्रयोग नहीं होता । क्रियाविशेषण तथा सम्बन्धसूचक अव्ययों के साथ प्रयुक्त होकर परसर्ग एक पदावली की संरचना करते हैं; जैसा कि ऊपर परिच्छेद (७) में कहा गया है । पदावली की संरचना में परसर्गों की तीन स्थितियाँ हो सकती हैं :

(क) जब परसर्ग अव्यय के पूर्व प्रयुक्त हो । जैसे : **—की ओर, की अपेक्षा, —के यहाँ,—के बाद,—के द्वारा, —के मुताबि**क इत्यादि ।

(ख) जब परसर्ग अव्यय के पश्चात् प्रयुक्त हो । जैसे :**—उपलक्ष्य में,—प्रकार की,—आमे को** इत्यादि ।

(ग) जब परसर्ग दो अव्ययों के मध्य स्थित हो । जैसे : **—की ओर से,— के तत्त्वावधान में,—**के आधार पर इत्यादि ।

स्पष्टीकरण—यहाँ यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि परसर्ग जब पद के पूर्व प्रयुक्त हो रहा है (जैसे '—के आगे'), तब इसे परसर्ग कहना कहाँतक युक्तिसंगत है ? इस शंका का समाधान यह है कि परसर्ग अव्यय के पूर्व तो प्रयुक्त होता है, किन्तु परसर्ग और अव्यय से विरचित संयुक्त पदावली एक इकाई के रूप में प्रयुक्त होती है । जब यह इकाई वाक्य में प्रयुक्त होती है, तब परसर्ग-गत सम्बन्ध की अभिव्यक्ति केवल परसर्ग के द्वारा न होकर, सम्पूर्ण पदावली के द्वारा होती है; इसी कारण इसे परसर्गीय पदावली की संज्ञा दी गई है । यहाँ यह भी कथनीय है कि जब संज्ञा अथवा विशेषण का प्रयोग अव्यय की भाँति हो, तब भी परसर्गीय पदावली की रचना हो जाती है । जैसे : **दूती के हाथ पत्र पठाया; इस पद के लायक आदमी नहीं मिलता ।**

१०. परसर्ग का प्रयोग 'निपात' के पहले या पीछे भी हो सकता है । जैसे : **घण्टे भर की देर है, घण्टे भर की तो बात है, राम ही ने कहा था, राम ही ने तो कहा था, राम ने ही कहा था, राम ने ही तो कहा था, राम ने कहा ही था, आपकी चर्चा, आपकी ही चर्चा, आप ही की चर्चा** इत्यादि ।

ऐसे प्रयोगों में निपात अथवा परसर्ग अपने प्रकृत अर्थ की अभिव्यक्ति करता है ।

प्रतापगढ़
जम्मू-तवी
(जम्मू-कश्मीर)

'मानस' में प्रयुक्त 'कि' अव्यय

● श्रीशम्भुनाथ पाण्डेय

१. मानस में प्रयुक्त 'कि' की अर्थसीमा तथा व्याकरणिक कोटि निर्धारित करने के लिए उसके सम्पूर्ण प्रयोगों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। हिन्दी-अर्थ-विज्ञान तथा शैली-शास्त्र के क्षेत्रों में अभी इस प्रकार के कार्य आरम्भ नहीं हुए, इसलिए उनका प्रयोग भी अनुमान से हो रहा है तथा अर्थ भी प्रसंग के आधार पर अनुमान से ही लगाया जा रहा है।

१.१ भाषा में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है। एक, जिसका कोई पूर्व-निर्धारित कोशीय अर्थ होता है; जैसे घट, पट। इन शब्दों के लाक्षणिक प्रयोगों को छोड़कर सामान्य अभिधेय अर्थ लगाना कठिन नहीं है और कठिनाई होने पर कोश-ग्रन्थों की सहायता ली जा सकती है। दूसरे शब्द वे हैं, जिनका प्रयोग व्याकरणिक सम्बन्ध की सूचना के लिए किया जाता है। इन शब्दों को विभक्तिसूचक परसर्ग कहते हैं। 'अब लगि', 'मोहि लागि' में 'लगि' तथा 'लागि' व्याकरणिक अर्थ रखनेवाले शब्द हैं। तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं, जिनका न तो कोई व्याकरणिक अर्थ होता है और न कोशीय। ऐसे शब्दों को हम सान्दर्भिक शब्द कह सकते है; क्योंकि वे सन्दर्भ से ही अपना अर्थ ग्रहण करते हैं। बहुत-से सार्वनामिक तथा अव्यय शब्द इसी कोटि में आते हैं। द्वितीय तथा तृतीय प्रकार के शब्दों का सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन किया जाना बहुत आवश्यक है। विना विस्तृत सर्वेक्षण के इनकी अर्थसीमा एवं प्रयोग-क्षेत्र का निश्चय नहीं किया जा सकता। 'कि' एक सान्दर्भिक शब्द ही है।

१.२ सान्दर्भिक शब्दों की अर्थसीमा निश्चित करने के लिए आदर्श स्थिति तो यह है कि वाङ्मय के लिखित और अलिखित (मौलिक रूप में बोलचाल में प्रयुक्त) दोनों क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया जाय; किन्तु यहाँ 'रामचरितमानस को दोनों ही रूपों का प्रतिनिधि-क्षेत्र मानकर एक सीमित भाषा की सीमा में अध्ययन किया जा रहा है।

अर्थ-वितरण एवं प्रयोग-क्षेत्र का विश्लेषण :

'मानस' में प्रयुक्त 'कि' का अर्थ-वितरण एवं प्रयोग के सन्दर्भों का अध्ययन निम्नांकित शीर्षकों में किया जा सकता है। एक का सम्बन्ध अर्थ-विज्ञान तथा दूसरे का शैली-शास्त्र से है। किसी काव्य-कृति के शब्द-प्रयोग का अध्ययन कवि की शैली से निरपेक्ष रूप में नहीं किया जा सकता। दोनों एक-दूसरे से अपृथक् रूप से संश्लिष्ट हैं। शब्द की अर्थसीमा उसके प्रयोग-क्षेत्र पर आश्रित है और शब्द-प्रयोग कवि की शैली पर। अतः, यहाँ दोनों का संश्लिष्ट विवेचन प्रस्तुत किया जाता है :

(अ) निर्मायक रूप में गौण प्रयोग ।

(आ) समुच्चयवाचक अव्यय के रूप में मौलिक प्रयोग ।

(इ) विकल्पवाचक अर्थ में सामान्य प्रयोग ।

(ई) संकल्प-विकल्प की स्थिति में संशयवाचक प्रयोग ।

(उ) सम्भाषण की स्थिति में संशयवाचक प्रयोग ।

(ऊ) प्राश्निक वैकल्पिक स्थिति के विविध प्रयोग ।

(ए) प्रश्नमूलक निषेधवाचक प्रयोग—प्रश्न>निषेध तथा प्रश्न>निषेध>अवधारण-क्रम में 'कि' के प्रयोग के सन्दर्भ निम्नांकित हैं

१. सन्देह-निवारण-अभिप्रेरित प्रयोग ।

२. महिमा-प्रतिपादन-अभिप्रेरित प्रयोग :

(क) प्रस्तुत कथ्य में 'कि' का प्रयोग ।

(ख) अप्रस्तुत दृष्टान्त में 'कि' का प्रयोग ।

३. सूक्तियों में अवधारणामूलक प्रयोग :

(क) प्रस्तुत कथ्य में 'कि' का प्रयोग ।

(ख) अप्रस्तुत दृष्टान्त में 'कि' का प्रयोग ।

४. भावाभिव्यंजक प्रयोग :

(क) प्रस्तुत कथ्य में 'कि' का प्रयोग ।

(ख) अप्रस्तुत दृष्टान्त में 'कि' का प्रयोग ।

विस्तृत विवेचन विभिन्न सन्दर्भों में किया जायगा ।

अर्थ-वितरण एवं प्रयोग-क्षेत्र के आधार में अव्यय 'कि' का विश्लेषणात्मक अध्ययन वर्णानुक्रम में प्रस्तुत किया जाता है :

(अ) निर्मायक रूप में गौण प्रयोग : 'का' 'के' तथा 'की' निर्मायक शब्द हैं । इनका प्रयोग सम्बन्धसूचक परसर्ग के रूप में होता है । 'मानस' में 'की' के स्थान पर कहीं-कहीं इसी अर्थ में 'कि' का भी प्रयोग हुआ है, केवल छन्दोऽनुरोध के कारण, अतः यह 'कि' का गौण प्रयोग है । यह प्रयोग ठीक वैसा ही है, जैसा कि कवि को छन्दोऽनुरोध के कारण 'कि' का भी दीर्घ रूप 'की' कहीं-कहीं करना पड़ा है । अतः, यह मानना पड़ेगा, 'कि' न तो निर्मायक शब्द है और न 'की' सान्दर्भिक शब्द । वाक्य में प्रयुक्त होने पर सन्दर्भ दोनों रूपों को इतनी स्पष्टता से उभारता है कि निर्मायक में सान्दर्भिक अर्थ का भ्रम होने की गुंजाइश नहीं है । एक उदाहरण लीजिए : 'सब सिय राम प्रीति **कि** सी मूरति ।' (२।२८१।७) यहाँ 'प्रीति **की** सी मूरति' के स्थान पर 'की' का ह्रस्व रूप 'कि' छन्दोऽनुरोध से करना पड़ा है । प्रस्तुत विवेचन में वस्तुतः निर्मायक को गौण रूप की चर्चा अपेक्षित नहीं थी, किन्तु एक-दो प्रयोग मिलते हैं, इसलिए उल्लेख करना पड़ा ।

(आ) समुच्चयवाचक के रूप में मौलिक प्रयोग : 'कहना' तथा 'पूछना' क्रियाओं के पश्चात् मिश्रित वाक्यों में 'कि' का प्रयोग समुच्चयवाचक अव्यय के रूप में होता है ।

मध्यकालीन साहित्य में 'कि' का यह योजक रूप किसी अन्य कवि में देखने को नहीं मिलता और संस्कृत एवं प्राकृत-भाषाओं में भी इस प्रकार के मिश्रित वाक्यों की परम्परा नहीं मिलती और न संस्कृत तथा प्राकृत अथवा अपभ्रंश में संयोजक 'कि' का कोई तत्सम अथवा तद्भव रूप ही मिलता है। संस्कृत के 'कथम्' तथा 'किम्' प्रश्नवाचक शब्द हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि विवेच्य 'कि' इन्हीं में से किसी का घिसा हुआ रूप है, तो भी इसका प्रयोग प्रश्नवाचक सन्दर्भ में तो हो सकता है, समुच्चयवाचक अव्यय के रूप में नहीं। ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के विशेषज्ञों को इस गुत्थी को सुलझाना चाहिए कि समुच्चयवाचक अव्यय के रूप में 'कि' का प्रयोग किस स्रोत से आया है तथा इस रूप में इसका प्रयोग हिन्दी में कबसे प्रारम्भ हुआ है? उदाहरण निम्नांकित हैं :

१. मिलि जननिहिं सादर रघुराऊ। गुर सन कहेउ **कि** धारिय पाऊ ॥ (२।२४५।७)
२. पूँछहु मोहि **कि** रहौं कहँ, मैं पूँछत सकुचाउँ। (२।१२७)
३. उर दहेउ कहेउ **कि** धरहु धाए बिकट भट रजनीचरा। (३।१९।१५)

(इ) **विकल्पवाचक अर्थ में सामान्य प्रयोग :** सामान्य से यहाँ तात्पर्य अप्रश्नात्मक तथा अशंकात्मक है। 'कि' का प्रयोग विकल्पवाचक अव्यय के रूप में पर्याप्त हुआ है। वैकल्पिक स्थितियाँ प्रश्न तथा शंकामूलक भी हो सकती हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल वैकल्पिक स्थितियों के उदाहरण दिये जाते हैं :

१. पुनि न सोच तनु रहउ **कि** जाऊ। (२।४।५)
२. देहु उतरु अनु करहु **कि** नाहीं। (२।३०।४)
३. देहु **कि** लेहु अजसु करि नाहीं। (२।३३।६)
४. छाँड़हु बचन **कि** धीरज धरहू। (२।३५।७)
५. एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
   कहहिं गवाँइअ छिनकु श्रमु गवनव अबहिं **कि** प्रात ॥ (२।११४)
६. सो भुज कंठ **कि** तब असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा ॥ (५।१०।४)
७. **को** तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।
   होहि **कि** राम सरानल खल कुल सहित पतंग ॥ (५।५६।ख)

उक्त वैकल्पिक स्थितियों में किसी प्रकार की शंका, संशय, प्रश्न जैसी स्थिति नहीं है। 'कि' के अन्य जितने भी प्रयोग मिलते हैं, उनके अभिधेय अर्थ में प्रश्नात्मक कथन अवश्य है, चाहे वह आत्मकथन में ऊहापोह के रूप में हो अथवा श्रोता-वक्ता-क्रम में सम्भाषण अथवा कवि-श्रोता-क्रम में बलात्मक कथन के रूप में।

(ई) संकल्प-विकल्प की स्थितियों में संशयवाचक प्रयोग : किसी व्यक्ति या वस्तु-स्थिति के विषय में जब अनेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होने लगती हैं, तब वह स्थिति स्वयं चिन्तक के लिए प्राश्निक बन जाती है। शिव को सीतान्वेषी राम को प्रणाम करते हुए देखकर सती के मन में जो शंकाएँ उत्पन्न हुईं, वे इस स्थिति का अच्छा परिचय देती हैं :

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो **कि** देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥

विष्नु जो सुर हित नर तनु धारी । सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी ।।
खोजइ सो **कि** अग्य इव नारी । ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ।।
(१।५० से १।५१।१-२ तक)

इसी प्रकार की शंकाओं को जब श्रोता-वक्ता-क्रम में व्यक्त किया जाता है, तब वह एक भिन्न स्थिति बन जाती है; किन्तु अभिव्यक्ति के रूप की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है । इसलिए, आगे के विवेचन में दोनों स्थितियों को प्रश्नवाचक वैकल्पिक स्थिति मानकर एक साथ विवेचन किया जायगा ।

(उ) सम्भाषण की स्थिति में संशयवाचक प्रयोग : उपर्युक्त स्थिति और इस स्थिति में अन्तर केवल इतना ही है कि संकल्प-विकल्प में चिन्तक स्वयं ही द्विधाविभक्त होकर प्रश्नकर्त्ता और समाधानकर्त्ता बन जाता है, जबकि सम्भाषण अथवा संवादों में वक्ता-श्रोता पृथक्-पृथक् होते हैं । पहला प्रश्न करता है, दूसरा उनका समाधान उपस्थित करता है । इस स्थिति के उदाहरण निम्नांकित हैं :

१. प्रभु सोइ राम **कि** अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि ।
(भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद, १।४६)

२. राम सो अवध नृपति सुत सोई । **की** अज अगुन अलख गति कोई ।
(उमा-शिव-संवाद, १।१०८।८)

३. कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक । नृपकुल तिलक **कि** मुनिकुल पालक ।
ब्रह्म जो निगम नेति श्रुति गावा । उभय बेष धरि **की** सोई आवा ।
(जनक-विश्वामित्र-संवाद, १।२१६।१-२)

४. **की** तुम तीनि देव महँ कोऊ । नर नारायण **की** तुम्ह दोऊ ।।
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार ।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ।। (हनुमान्-राम-संवाद, ४।१)

५. **की** तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई । मोरे हृदयँ प्रीति अति सोई ।।
की तुम्ह राम दीन्ह अनुरागी । आयहु मोहि करन बड़भागी ।।
(विभीषण-हनुमान्-संवाद, ५।६।७-८)

(ऊ) प्राश्निक वैकल्पिक स्थिति के विविध प्रयोग : ऊपर जिन संशयमूलक संकल्प-विकल्प तथा सम्भाषण के सन्दर्भों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया था, उन सबमें प्राश्निक वैकल्पिक स्थिति ही व्यक्त हुई थी । यहाँ दोनों प्रकार के सन्दर्भों का अविभक्त अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है । निम्नांकित विविध प्रयोगों में भावी घटनाओं के प्रति असमंजस, प्रत्याशा, जिज्ञासा, गर्वोक्ति आदि अभिव्यंजित हैं :

१. मो कहँ काह कहत रघुनाथा । रखिअहिं भवन **कि** लेहहिं साथा ।
(असमंजस, २।७०।५)

२. **की** तनु प्रान **कि** केवल प्राना । बिधि करतब कछु जाइ न जाना ।
(असमंजस, २।५७।४)

३. यहु संसय सबके मन माहीं । राम गवनु बिधि अवध **कि** नाहीं ।।
(असमंजस, २।२५२।८)

४. आने फेरि **कि** बनहिं सिधाए । सुनत सचिव लोचन जल छाए ।।
(प्रत्याशा, २।१४९।४)

५ **कीधौं** श्रवन सुनेहि नहिं मोही । देखहुँ अति असंक सठ वोही ।।
(गर्वोक्ति, ५।२१।२)

६. **की** भइ भेंट **कि** फिरि गए, श्रवन सुजसु सुनि मोर (गर्वोक्ति, ५।५३)

७. आवत मुकट देखि कपि भाजे । दिन ही लूक परन बिधि लागे ।।
की रावन करि कोप चलाए । कुलिस चारि आवत अति धाए ।।
(सन्देह अलंकार ६।३२।८-९)

उपर्युक्त (ई), (उ) तथा (ऊ) सन्दर्भों में शब्द-प्रयोग की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है । सभी प्राश्निक स्थितियाँ हैं तथा सभी में **की** वैकल्पिक अर्थवाचक है ।

(ए) **प्रश्नमूलक निषेधवाचक प्रयोग : १. सन्देह-निवारण-अभिप्रेरित प्रयोग**—राम के चरित्र में ऐसे स्थल भी आये हैं, जहाँ पाठकों को उनके अवतारी आधिदैविक रूप में सन्देह हो सकता है । कवि ने 'कि' का प्रयोग प्रश्न>निषेध>अवधारणा-क्रम में सन्देह-निवारण के अभिप्राय से किया है । कवि राम के आधिदैविक रूप के ऐश्वर्य अथवा महिमा का संकेत करके ऐसा प्रश्न पूछता है, जिससे चरित्रगत लघुता का स्वतः निषेध हो जाता है और पाठकों के मन में राम के ब्रह्मरूप अथवा आधिदैविक रूप की अवधारणा दृढ हो जाती है । उदाहरण निम्नांकित हैं :

१. परसि जासु पद-पंकज धूरी । तरी अहल्याकृत अघ भूरी ।।
सो **कि** रहहि बिनु सिव धनु तोरे । असि प्रतीति परिहरिय न मोरे ।।
(१।२२३।५-६)

२. लोकप होहिं बिलोकत जासू । तेहि **कि** मोह सक बिषय बिलासू ।।
(सीता, २।१४०।८)

३. जासु ग्यानु रवि भव निसि नासा । बचन किरन मुनि कमल बिगासा ।।
तेहि **कि** मोह ममता नियराई । यह सिय राम सनेह बड़ाई ।।
(राजा जनक, २।२७७।२)

४. जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड ।
खर दूषन तिसिरा बधेउ मनुज **कि** अस बरिबंड ।। (३।२५)

५. भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई । सपनेहु संकट परइ **कि** सोई ।।(३।२८।४)

६. जासु कृपा छूटहिं मद मोहा । ता कहुँ उमा **कि** सपनेहु कोहा ।।
(४।१८।६)

७ जासु नाम जपि सुनहु भवानी । भव बंधन काटहिं नर ग्यानी ।।
तासु दूत **कि** बंधतर आवा । प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा ।।
(५।२०।३-४)

८. वचन काय मन गम गति जाही । सपनेहु संकट परइ कि ताही ।।
(५।३२।२)

९. जौं पै दुष्ट हृदयँ सोई होई । मोरे सनमुख आव कि सोई ।। (५।४४।४)

१०. भृकुटि भंग जो कालहि खाई । ताहि कि सोहइ ऐसि लराई ।। (६।६६।२)

११. गिरिजा जासु नाम जपि, नर काटहिं भवपास ।
सो कि बंधतर आवइ, व्यापक बिस्व निवास ।। (६।७३)

१२. उमा बिभीषन रावनहिं सनमुख चितव कि काउ ।
सो अब भिरत काल ज्यों श्री रघुबीर प्रभाउ ।। (६।९४)

१३. प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी ।।
इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सन्मुख तम कबहुँ की जाहीं ।।
(७।७२।७-८)

(ए) २. **महिमा-प्रतिपादन-अभिप्रेरित प्रयोग** : राम-शिव-पार्वती जैसे इष्ट पात्रों से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं आदि का वर्णन करने के पश्चात् कवि उनकी महिमा का स्मरण दिलाये विना नहीं रहता और यह स्मरण उन सबको वर्णनातीत बतलाकर कराता है । अकथनीयता की व्यंजना के लिए वह दो विधाएँ अपनाता है : (क) प्रस्तुत कथ्य में ही 'वर्णन' अथवा 'बखान' क्रियाओं के साथ प्रश्नवाचक 'कि' का प्रयोग करता है तथा (ख) शेष, शारदा, महेश, गणेश आदि प्रसिद्ध वक्ताओं को वर्णन में अक्षम बतलाकर किसी दैन्यसूचक दृष्टान्त के द्वारा अपनी वर्णन-अक्षमता प्रकट करता है । ऐसे स्थलों पर 'कि' का प्रयोग अप्रस्तुत वाक्य के साथ प्रयुक्त होता है । दोनों प्रकार के उद्धरण देखिए :

(क) १. जगदम्बा जहँ अवतरी सो पुर बरनि कि जाइ ।
रिद्धि सिद्धि संपति सुख नित नूतन अधिकार ।। (गिरिजा, १।९४)

(क) २. भाँति अनेक भई जेवनारा । सूप सास्त्र जस कछु व्यवहारा ।।
सो जेवनारि कि जाइ बखानी । बसहिं भवन जेहि मातु भवानी ।।
(गिरिजा, १।९९।५)

(क) ३. बिस्व मोहिनी तासु कुमारी । श्री बिमोह जिसु रूप निहारी ।।
सोइ हरिमाया सब गुन खानी । सोभा तासु कि जाइ बखानी ।।
(विष्णु-माया, १।१३०।५)

(क) ४. रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ ।। (७।२९)

(ख) १. प्रेम प्रमोद बिनोद बड़ाई । समउ समाज मनोहरताई ।।
कहि न सकहिं सत सारद सेसू । बेद बिरंचि महेस गनेसू ।।
सो मैं कहौं कवनि बिधि बरनी । भूमि नागु सिर धरइ कि धरनी ।।
(रामविवाह, १।३५५।४-६)

(ख) २. कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन ।।
सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर कमठ **कि** मंदरु लेहीं ।।
(चित्रकूट, २।१३९।६-७)

(ख) ३. अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को ।।
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँड़र ताँती ।।
(२।२४१।५-६)

(ख) ४. भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी ।।
औरु करइ को भरत बड़ाई। सरसी सीप कि सिंधु समाई ।।
(२।२५७।२, ४)

(ख) ५. भरत सील गुन बिनइ बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई ।।
कहत सारदहु की मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे ।।
(२.२८३, ३-४)

(ख) ६. निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरतु भरत सम जानि।
कहिय सुमेरु **कि** सेर सम, कवि कुल मति सकुचानि ।। (२।२८८)

अधोलिखित रूपक-शैली में भी यही बात प्रतिपादित की गई है :

(ख) ७. राम अमित गुन सागर थाह **कि** पावइ कोइ।
संतन सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनायउ सोइ ।।
(भुशुण्डी-गरुड-संवाद, ७।९२।क)

(ख) ८. नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरित सिन्धु रघुनायक थाह कि पावइ कोइ।
(भुशुण्डी-गरुड-संवाद, ७।१२३)

अधोलिखित विनयोक्तियों में भी यही शैली देखी जा सकती है :

(ख) ९. प्रिय लागहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु **कि** करइ कोउ बंदिय मलय प्रसंग ।। (१।१० क)

(ख) १०. देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ घरनि राम महतारी ।।
रउरे अंग जोग जग को है। दीप सहाय **कि** दिनकर सोहे ।।
(२।२८५।२-३)

रामत्व की अवधारणा में भी कवि ने इसी शैली का प्रयोग किया है। जैसे :

(ख) ११. प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ।।
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सन्मुख तम कबहुँ **कि** जाहीं ।।
(७।७२।७-८)

(ए) ३. सूक्तियों में अवधारणामूलक प्रयोग : 'मानस' लोकमंगल की प्रतिष्ठा करने-वाला ग्रन्थ है, इसलिए उसमें चरित्र-चित्रण, सिद्धान्त-निरूपण और लोक-शिक्षा का कांचन-मणि-मुक्ता-संयोग सम्पादित किया गया है। और, तुलसी को जहाँ भी अवसर मिला है,

वे नीति, सदाचार, लोक-व्यवहार आदि लोक-शिक्षा के विभिन्न तत्त्वों का समावेश करते गये हैं। लोक-शिक्षा को उन्होंने सूक्तियों की शैली में प्रतिपादित किया है। सूक्ति-कथन की यह विशेषता है कि जब उसकी अभिव्यक्ति सामान्य (अनिषेध) शैली में की जाती है, तब प्रभाव भी सामान्य रहता, निषेध की शैली में वह और बढ़ता है, किन्तु प्राश्निक शैली में तो वह प्रभाव के चरम बिन्दु तक पहुँच जाता है, और यदि किसी नैतिक सिद्धान्त, विचार या आचार की सम्पुष्टि, किसी अप्रस्तुत भौतिक सत्य से कर दी जाती है, तब तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से अप्रस्तुत की अकाट्य सत्यता की दृढता प्रस्तुत नीति-वाक्य को अनायास मिल जाती है। लोक-मानस में तथ्यों के विश्लेषण की क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है, वह नैतिक और भौतिक नियमों का समभाव से ग्रहण कर लेता है। लोक-शिक्षा के लिए तुलसी की अप्रस्तुत से पुष्ट प्रस्तुत नीति-कथन की यह शैली रामबाण के समान अमोघ है। दोनों प्रकार की शैलियों के उदाहरण देखिए :

(क) प्रस्तुत कथ्य में 'कि' का प्रयोग :

१. जौं असि हिंसा करहिं नर, जड़ विवेक अग्यान।
परहिं कलप सत नरक महुँ, जीव **कि** ईस समान ।। (१।६९)

२. लोभी लोलुप कल कीरति चहई। अकलंकिता **कि** कामी लहई। (१।२६७।३)

३. सीम **कि** चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू। (१।२१६।८)

४. राम चरन प्रिय पंकज जिन्हहीं। विषय भोग बस करहिं **कि** तिन्हहीं।
(२।८४।८)

५. ताहि **कि** सम्पति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम।
भूत द्रोह रत मोह बस, राम बिमुख रति काम ।। (६।७८)

६. बारम्बार सकोपि मुनि करइ निरूपन ग्यान।
मैं अपने मन बैठि तब करऊँ बिबिध अनुमान ।।
क्रोध **कि** द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत **कि** बिनु अग्यान।
माया बस परिछिन्न जड़ जीव **कि** ईस समान ।।
कबहुँ **कि** दुख सब कर हित ताकें। तेहि **कि** दरिद्र परसमनि जाकें ।।
परद्रोही **की** होहिं निसंका। कामी पुनि **कि** रहहिं अकलंका ।।
बंस **कि** रह द्विज अनहित कीन्हें। कर्म **कि** होहिं स्वरूपहिं चीन्हें ।।
काहू सुमति **कि** खल संग जामी। सुभ गति पाव **कि** पर त्रिय गामी ।।
भव **कि** परहिं परमातमा बिन्दक। सुखी **कि** होहिं कबहुँ हरि निन्दक ।।
राजु **कि** रहइ नीति बिनु जानें। अघ कि रहहिं हरि चरित बखाने ।।
पावन जस **कि** पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस **कि** पावइ कोई ।।
लाभु **कि** किछ हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत समाना ।।
हानि **कि** जग ऐहि सम कछ भाई। भजिय न रामहिं नर तनु पाई ।।
अघ **कि** पिसुनता सम कोउ आना। धर्म **कि** दया सरिज हरिजाना ।।
(६।१११।ख से ७।११२।११ तक)

अन्तिम सूक्ति की अर्द्धाली को छोड़कर शेष सूक्तियाँ विभिन्न पात्रों के कार्य पर की गई टिप्पणियाँ हैं, जिनमें अप्रस्तुत के आयोजन के लिए अवकाश नहीं था। अन्तिम उद्धरण भी कथा-प्रवाह में प्रक्षिप्त किया गया अवसर है, वस्तुतः वहाँ इतनी लम्बी नीति-शृंखला के पिरोने की गुंजाइश नहीं थी। किन्तु, सातवें सोपान में रामचरित की परिसमाप्ति के पश्चात् कवि ने नैतिक उपदेशों के लिए अतिरिक्त छूट ली है। इतने कम शब्दों में, इतनी निर्भ्रान्त शैली में जीवन के विविध पक्षों के आचार-सूत्र सँजोना तुलसी जैसे महान् लोक-शिक्षक का ही कार्य था।

(ख) अप्रस्तुत दृष्टान्त में 'कि' का प्रयोग : 'मानस' का उपसंहार करते समय तुलसी ने बड़ी ही बलशाली शैली में अपने सिद्धान्तों की अवधारणा की है। नैतिक उपदेश उसी शैली का एक भाग है। अप्रस्तुत से पुष्ट होने पर नीतिवाक्य बहुत ही प्रभावशाली बन गये हैं। अप्रस्तुत में प्रश्न > निषेधवाचक 'कि' के प्रयोग ने कथ्य के प्रभाव को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। यथा :

बिनु गुर होइ **कि** ग्यान, ग्यान **कि** होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान, सुख **कि** लहिय हरि भगति बिनु॥ (७।८९।क)
कोउ बिश्राम **कि** पाव तात सहज सन्तोष बिनु।
चलै **कि** जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिय॥ (८९।ख)
बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं न कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ **कि** जामा॥
श्रद्धा बिना धर्म नहि होई। बिनु महि गंध **कि** पावइ कोई॥
बिनु तप तेज **कि** कर बिस्तारा। जल बिनु रस **कि** होइ संसारा॥
सील **कि** मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं॥
निज सुख बिनु मन होइ **कि** थीरा। परस **कि** होइ बिहीन समीरा॥
कवनिउ सिद्धि **कि** बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥
(७।९०।१-८)

(ए) ४. भावाभिव्यंजक प्रयोग : अबतक जिन सन्दर्भों का अध्ययन किया गया, उन सबमें प्रश्न > निषेध-क्रम में 'कि' का प्रयोग प्रायः तथ्यों की अवधारणा अथवा बलात्मक कथन अथवा निषेध के अभिप्राय से किया गया था। भावाभिव्यंजक प्रयोग वे हैं, जहाँ चरित्र-चित्रण अथवा करुणा, अमर्ष, व्यंग्य, परिहास, भर्त्सना आदि संवेगों के चित्रण में 'कि' का प्रयोग किया गया है। इन प्रयोगों में एकरूपता भी नहीं है और अभिव्यंजकता भी अधिक है। सभी सन्दर्भ वार्त्तालाप के हैं, इसलिए इन प्रयोगों में सहजता भी अधिक है। भावाभिव्यंजक प्रयोग भी दो प्रकार के हैं : (क) जहाँ कथ्य में प्राश्निक 'कि' का प्रयोग किया गया है, तथा (ख) जहाँ कथन के पोषण में किसी अप्रस्तुत का प्रयोग किया गया है। ऐसे सन्दर्भों में किसी बात का या तो बलपूर्वक निषेध किया गया है या फिर अवधारणा की गई है। दोनों के उद्धरणों का अध्ययन करने पर बात स्वतः स्पष्ट हो सकेगी।

(ए) ४. (क) प्रस्तुत कथ्य में 'कि' का प्रयोग :

१. तुम्ह सन मिटहिं **कि** बिधि के अंका । मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका ।।
(१।९७।८)

२. ब्रह्मचरज ब्रत रत मति धीरा । तुम्हहि **कि** करइ मनोभव पीरा ।।
(१।१२९।२)

३. सोइ सूरता **कि** अब कहुँ पाई । असि बुधि तो बिधि मुँह मसि लाई ।।
(१।२६६।८)

४. भरतु **कि** राउर पूत न होंही । आनेहु मोल बेसाइ **कि** मोही ।। (२।३०।२)

५. लखी महीप कराल कठोरा । सत्य **कि** जीवनु लेइहि मोरा ।। (२।३१।३)

६. सीय **कि** पिय सँगु परिहरिहि, लखनु **कि** रहिहहिं धाम ।।
राज **कि** भूँजब भरतपुर नृपु **कि** जिअहिं बिनु राम ।। (२।४९)

७. मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिन्धु परिहरिअ **कि** सोई ।।(२।७३।८)

८. सिय रघुबीर **कि** कानन जोगू । कर्म प्रधान सत्य कह लोगू ।। (२।९१।८)

९. मातु कहेहुँ बहुरहिं रघुराऊ । राम जननि हठ करबि **कि** काऊ।।(२।२५३।४)

१०. भूमि सयन बलकल बसन असनु कंद फल मूल ।
ते **कि** सदा सब दिन मिलहिं सबुइ समय अनुकूल ।। (२।६२)

११. सभा माँझ परि व्याकुल बहु प्रकार कह रोइ ।
तोहि जिअत दसकंधर मोरि **कि** असि गति होइ ।। (३।२१।ख)

१२. जासु नाम जपि संकर कासी । देत सबहिं सम गति अबिनासी ।।
मम लोचन गोचर सोइ आवा । बहुरि **कि** प्रभु अस बनइ बनावा ।।
(४।१०।५-६)

१३. जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ । जन सन कबहुँ **कि** करहुँ दुराऊ ।।

१४. जौं न होति सीता सुधि पाई । मधुबन के फल सकहिं **कि** खाई ।।

१५. सुनु मति मन्द देहि अब पूरा । काटें सीस **कि** होइअ सूरा ।।(६।२९।९)

१६. जामबन्त मन्त्री अति बूढ़ा । सो **कि** होइ अब समरारूढ़ा ।।(६।२३।४)

१७. सुनु सुत भयउ काल बस रावन । सो **कि** मान अब परम सिखावन ।।
(६।६४।७)

(ए) ४. (ख) अप्रस्तुत में 'कि' का प्रयोग :

१. हंस गवनि तुम्ह नहिं बन जोगू । सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू ।।
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली । जिअइ **कि** लवन पयोधि मराली ।।
नवरसाल बन बिहरन सीला । सोह **कि** कोकिल बिपिन करीला ।।
(२।६३।५–७)

२. सिय बन बसिहि तात केहि भाँती । चित्र लिखित कपि देखि डेराती ।।
सुरसर सुभग बनज बनचारी । डाबर जोग **कि** हंस कुमारी ।।

३. नरबर धीर धरम धुर धारी । निगम नीति कहुँ तेइ अधिकारी ।।
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला । मन्दरु मेरु **कि** लेहिं मराला ।।

४. भरतहिं होइ न राजमदु, बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ **कि** काँजी सीकरनि, छीर सिन्धु बिनसाइ ।। (२।२३१)

५. मातु मन्दि मैं साधु सुचाली । उर अस आनत कोटि कुचाली ।।
फरइ **कि** कोदव बालि सुसाली । मुकुता प्रसव **कि** संबुक काली ।।
(२।२६१।३-४)

६. बिधि हरि हर माया बड़ि भारी । सोउ न भरतमति सकइ निहारी ।।
सो मति मोहि कहत करु भोरी । चांदिनि कर **कि** चन्द कर चोरी ।।
(२।२९५।५)

अधोलिखित उक्तियों के अप्रस्तुत विधान में लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है, जिससे कथन की कान्ति बढ़ गई है और वह अधिक प्रभावशाली एवं मार्मिक बन गया है। उक्तियों में व्यंग्य, परिहास, करुणा तथा भर्त्सना की व्यंजना प्राश्निक निषेध एवं लोकोक्ति से युक्त दृष्टान्तों के पोषण से काफी गहरी बन गई है। इस प्रकार की उक्तियों में तुलसी के कवि-रूप की झाँकी मिलती है :

७. पंच कहें सिव सती बिबाही । पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही ।।
अब सुख सोवत सोचु नहिं भीख माँगि भव खाहिं ।
सहज एकाकिन्ह के गृह कबहुँ **कि** नारि खटाहिं ।।
(१।७९।८, १।७९)

८. नारद कर मैं काह बिगारा । भवन मोर जिन्ह बसत उजारा ।।
साँचेहुँ उन्ह कें मोह न माया । उदासीन धनु धाम न जाया ।।
पर घर घालक लाज न भीरा । बाँझ **कि** जान प्रसव कै पीरा ।।

९. व्यर्थ मरहु जनि गाल बाई । मनमोदकन्ह **कि** भूख बुताई ।।
(१।२४६।१)

१०. जौं अन्तहुँ अस करतब रहेऊ । मागु मागु तुम्ह केहि बल कहेऊ ।।
दुइ **कि** होइ एक समय भुआला । हँसब ठठाइ फुलाइब गाला ।।
दानि कहाउब अरु कृपनाई । होहिं **कि** खेम कुसल रौताई ।।
(२।३५।४—७)

निष्कर्ष :

रामचरितमानस में 'कि' एक ऐसा अव्यय है, जिसका प्रयोग 'कहना' तथा 'पूछना' क्रियाओं के पश्चात् समुच्चयबोधक अव्यय के रूप में हुआ है। इस रूप में 'कि' का प्रयोग मध्यकालीन साहित्य में दुर्लभ है। इसका प्रयोग 'अथवा' जैसे अर्थ में विकल्पसूचक अव्यय के रूप में भी हुआ है। शंका और संशय जैसी स्थिति में इसका प्रयोग प्राश्निक रूप में वैकल्पिक सम्भावनाओं के रूप में भी हुआ है। ये स्थितियाँ आत्मकथनमूलक भी हो सकती हैं तथा वार्त्तालापमूलक भी। प्राश्निक वैकल्पिक स्थितियाँ असमंजस आदि अनिश्चयात्मक मनोदशाओं में भी सम्भव है। ऐसी स्थितियों में भी 'कि' के द्वारा वैकल्पिक सम्भावनाओं को सूचित किया जाता है।

मानस में 'कि' का प्रयोग प्राश्निक स्थितियों में अधिक हुआ है, अतः हम कह सकते हैं कि 'कि' अपने मूल रूप में एक प्रश्नवाचक क्रियाविशेषण अव्यय है। प्रश्नवाचक सन्दर्भों में इसका प्रयोग 'हाँ-ना' उत्तरात्मक स्थितियों में हुआ है। किन्तु, जिन सन्दर्भों में इसका प्रयोग हुआ है, उनमें प्रश्न स्वीकारात्मक हो अथवा नकारात्मक, उनका उत्तर सदैव असम्भावनासूचक अथवा नकारात्मक होता है। इस दृष्टि से इसे प्रश्न>निषेधवाचक अव्यय भी कहा जा सकता है।

शैली की दृष्टि से विचार करने पर 'कि' के प्रयोग के दो रूप मिलते हैं। एक तो किसी विशेष उद्देश्य या अभिप्राय से अभिप्रेरित प्रयोग तथा दूसरा सहज प्रसंगगर्भ अभिव्यंजक प्रयोग। तुलसी ने 'कि' के प्रयोग से युक्त वैकल्पिक प्राश्निक स्थितियों का सर्जन राम के विषय में किया है, जो उस युग में निर्गुणवादी सन्तों के द्वारा शंका के रूप में उठाई जा रही थी। सम्भावनामूलक प्रश्न>निषेध-शैली में राम की महिमा का प्रतिपादन करके कवि ने उन शंकाओं को निर्मूल करने की चेष्टा की है। इसी दृष्टि से कवि राम से सम्बद्ध घटनाओं और वस्तुओं को वर्णनातीत बतलाकर राम के आधिदैविक रूप की ओर बार-बार संकेत करता है। ऐसी स्थितियों में उसने प्रायः अतिशयोक्ति का उपयोग किया है और शेष, गणेश महेश आदि को भी उनके विषय में असमर्थ बतलाया है। सूक्तियों में प्रश्न> निषेधवाचक 'कि' का प्रयोग एक अवधारणात्मक शैली के रूप में किया गया है। किन्तु, विकल्पसूचक तथा प्रश्नवाचक 'कि' के सर्वश्रेष्ठ प्रयोग वे हैं, जो प्रसंग की सहजता में किसी अनुभूति के चित्रण में हुए हैं। यही प्रयोग अधिक अभिव्यंजक है।

विशेष : प्रस्तुत निबन्ध में मानस के उद्धरण गीता प्रेस के संस्करण से लिये गये हैं। पहली संख्या सोपान, दूसरी कडवक तथा तीसरी पंक्तिसूचक है। इसलिए, दोहों के सन्दर्भ केवल दो संख्याओं में दिये गये हैं। मानस का कड़वक दोहों पर ही समाप्त होता है और प्रत्येक दोहे की संख्या प्रत्येक संस्करण में दी गई है।●

केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान
आगरा-५

"**परिषद्** ने सुन्दर साहित्यिक प्रकाशनों की व्यवस्था द्वारा हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी का साहित्य-भाण्डार ऐसे सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही समुन्नत हो मकता है।

—राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

पाश्चात्य साहित्य : एक दशक (१९५९-१९६९)

● डॉ० प्रभाकर माचवे

पश्चिम का जितना साहित्य भारत में अँगरेजी के माध्यम से पढ़ा गया और जितनी उसकी चर्चा हुई है, उसे देखते हुए कोई बड़ा भारी, अति विलक्षण प्रतिभाशाली लेखक गये दशक में न हुआ, न किसी विशेष ग्रन्थ को लेकर कोई बहुत बड़ा साहित्यिक विवाद ही पैदा हुआ। यानी कि यह दशाब्दी साहित्य-क्षेत्र में पश्चिम में भी शलाकापुरुष और शलाकाग्रन्थ से विहीन ही रही। परन्तु, प्रवासादि साधनों की क्षिप्रता से चन्द्र तक प्रवास अवश्य सुलभ हो गया। यूरोप-अमेरिका और एशिया के बीच यातायात के साथ विचार-विनिमय के साधन भी बड़ी मात्रा में सर्वजनसुलभ होने लगे। वियतनाम, इसरायल अरब-संघर्ष, बिआफ्रा, राजनीतिक हत्याएँ (कैनेडी, किंग आदि की) ज्यों-की-त्यों होती रहीं। साहित्य गूँगा-बहरा नपुंसक प्रेक्षक आत्मनिर्वासित ही बना रहा।

तीसरे-चौथे दशक में मार्क्सवाद और वामपन्थी विचारधारा का बोलबाला रहा। अमेरिका जैसे साम्यवाद-समाजवाद के नाम से चौंकनेवाले देश में भी **ड्राइफ्ट, जौन डौस पैसास, हावर्ड फास्ट** वामपक्ष की ओर झुके-से लगे। इंगलैण्ड में तो **बर्नार्ड शॉ** मरे, इक्यानब्बे बरस की उम्र में, तो उनके सिरहाने स्तालिन की तसवीर थी; आधुनिक काल में नब्बे बरस से ऊपर के **बर्ट्रेंण्ड रसेल** का कहना था : 'इट इज़ बेटर टू बि रेड, दैन बी डेड (काल के बजाय लाल बहता है)। गत महायुद्ध के अन्त से ही वामपक्षीय विचारधारा का साहित्य पर जादू पश्चिम में कम होने लगा और कई कट्टर मार्क्सवादी वामपन्थी लेखक उस 'खुदा' से, 'जिसने धोखा दिया' (दि गॉड दैट फेल्ड) के मिट्टी के भुरभुरे पैरों से वाकिफ हो गये, और अब उस साम्यदेवता-चरणाविन्द में मिलिन्दायमान होने के सपने से जग उठे। गये एक दशक में **आस्बोन** (लुक बैक इन एँगर) और **कोलिन विल्सन** (दि आउटसाइडर) जैसे अँगरेज-लेखक, जो 'क्रुद्ध नवयुवक' कहलाते थे, अब उतने 'क्रोध'-मय नहीं रहे। बल्कि, मार्क्सवाद के बाद आई हुई अस्तित्ववाद की लहर भी बहुत गहरा और तीव्र ज्वार अँगरेजी-साहित्य में पैदा न कर सकी। **ग्रैहम ग्रीन** जैसों ने 'बर्ण्ट आउट केस' जैसा उपन्यास लिखा, 'दि इनोसेण्ट अमेरिकन' भी लिखा। फिर भी, जो बात **ईलियट, पाउण्ड** आदि ने कविता में और **ज्वाइस, लारेंस** आदि ने उपन्यास में पैदा कर दी थी, उस उच्चांक-बिन्दु से आगे साहित्य न जा सका। वैसे भी अस्तित्ववाद का असर और उसपर बहस-मुबाहसा भी फ्रांस की जमीन पर ज्यादा रहा। इंगलैण्ड में काण्टिनेण्ट पर की चीज जरा देर से ही पहुँचती है; अपनी 'अस्मिता' की रक्षा में इंगलैण्ड सदा फ्रांस-जर्मनी आदि को सन्देह से ही देखता है। पर,

इस बार नई लहर जो पहुँची, वह अमेरिका के मारफत—बीटनिकों से जाकर बीटल तक इंगलैण्ड को झकझोरने लगे। और, मंच और संगीत को उस लहर ने, विसंगति और विद्रूप की व्यापक विज्ञानप्रियता ने, हिला दिया। 'कनेक्शन' और 'हेअर' जैसे नाटक, 'ओ कलकत्ता' जैसी फिल्में और जॉज़्-संगीत आदि के प्रकट लक्षण थे। साहित्य के क्षेत्र में जबतक **एलेन गिन्सबर्ग** लन्दन में अपना काव्यपाठ करने पहुँचे, इंगलैण्ड के निवासी इस तरह की प्रदर्शनप्रियता के आदी हो चुके थे। उनके ठण्डे मिजाज पर उसका खास असर नहीं पड़ा। यों भी कविता की बिक्री इंगलैण्ड-अमेरिका में और कम-कम होती जा रही है। ललित साहित्य हाशिये पर आ गया। **शेक्सपियर** की चतुश्शती भी कुछ नहीं कर सकी। स्पेण्डर ने 'एनकाउण्टर' छोड़ दिया, **आल्डस हक्सले** अध्यात्म में खो गये।

प्रश्न किया जा सकता है कि पश्चिम के साहित्य में तीन दशकों में **हिटलर** और **स्तालिन** और **माओ** जैसी हस्तियों के हिंसक एकच्छत्रवाद के बाद, क्या किसी एक दर्शन या विचारधारा का कोई व्यापक प्रभाव दिखाई देता है? प्रयत्न किया गया है प्रोटेस्टण्ट धर्मशास्त्री **पॉल टिलुक, कैथोलिक मॅरितेन, यहूदी मार्टिन ब्यूबेर** और वैज्ञानिक **बॅरिदियेव** के सश्रद्ध-अश्रद्ध अस्तित्ववाद में कुछ साम्य देखने का। पर, साहित्य में अस्तित्ववादी खेमे में काफी भगदड़, दल-बदलूपन और परस्पर-शंका-कुशंका तथा हेतु-विपर्यास आक्षेप-लांछन आदि चला। इसका सर्वोत्तम उदाहरण **ज्याँ पाल सार्त्र** द्वारा **आल्बेर कामू** के तथाकथित 'मानवतावाद' और एल्जीरिया के मामले में पक्षधर और प्रतिबद्ध न होने पर किये गये आरोप हैं। स्वयं सार्त्र ने क्यूबा में जाकर जो उसपर पुस्तक लिखी है, या सोरबों-विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के विद्रोह पर जो वक्तव्य दिया है, उससे स्पष्ट होता है कि उसका अस्तित्ववाद मार्क्सवाद-विरोधी नहीं है। पर **हाइडेग्गर** या उनके अनुयायियोंवाला तर्कपूर्ण और तर्कातीत अस्तित्ववाद कवियों और औपन्यासिकों से अधिक शायद नाटककारों को कुरेदता रहा है और **आयनेस्को** या तत्सम नये नाटककारों के 'ऊल-जलूल रंगमंच' (एब्सर्ड थियेटर) में वह अधिक अभिव्यंजना पाता रहा है। 'जितना ही अधिक सोचिए, उतना ही सोचना किसी नतीजे पर नहीं ले जाता', यह बात पश्चिम के साहित्य में 'प्रजा-युग' (एज ऑव रीज़न) की समाप्ति और एक नये भूयमान युग (जिसके उदाहरण 'हैपनिंग' हैं) के उदय के लिए लागू होती है। एक नये जर्मन-उपन्यासकार ने केवल सुर्खियों, विज्ञापनों को काटकर एक नई उद्धरण-शैली दी है। **वोल्फ़ वोंण्ड्राट् शेक** के उपन्यास का पात्र कहता है : "सिर्फ वाक्य काम के हैं। कहानी में अब कोई मजा नहीं रहा। कहानी सिर्फ वाक्य की स्मृति है। वह एक ही वाक्य में अन्त तक कहता हूँ।"

अमेरिकी साहित्य : इस तरह के 'वाक्यपदीय' साहित्य का सर्वोत्तम उदाहरण गत दशक का अमेरिकी साहित्य है। यहाँ मैं कुछ उद्धरण इस साहित्य के समीक्षकों और रचनाकारों से देता हूँ, जो स्वयं साक्ष्य हैं। दो साल पहले **कॅनेश रेक्सरौथ** भारत आये थे। हमारे घर पधारे थे, कविताएँ पढ़ीं और एक मनोरंजक पुस्तक दे गये। 'Assays' (अँसेज), जिसमें उनके स्पष्टभाषितापूर्ण लेख हैं। एक लेख में वे लिखते हैं,जिसका शीर्षक है 'अमेरिकी कविता पर फ्रेंच-प्रभाव' (पृ० १७१) : "दूसरे महायुद्ध ने अमेरिकी कविता में कुछ भी नहीं पैदा

किया। जैसा कि शेष दुनिया में भी हुआ, अमेरिकी अपनी करनी पर शरमा रहे थे; बीसवीं सदी के बीच में आकर युद्ध करना पड़े। अधिक चतुर ब्रिटिश इसके बारे में लिखते भी थे, लड़ते भी जाते थे। अमेरिका में फ्रेंच-साहित्य के विद्रोह के साहित्य जैसा कुछ नहीं था। सो, फ्रेंच-प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर पड़ा। **गिन्सबर्ग** **क्रीली**, **लेवेर्तोव**, **फेर्लेंगेट्टी** फ्रांस में लम्बे अरसे तक रहे हैं और आधुनिकतावाद से प्रभावित भी हुए। पर, अब उन्होंने अपना अलग रास्ता अपनाया है।'' और, एक दूसरे लेख में ('नई कविता, पृ०१९२') वे लिखते हैं : ''**राबर्ट डंकन** का स्वभाव कुछ-कुछ वैसा ही है, जैसे **एडमण्ड विल्सन** या **पण्डित नेहरू** का है, यानी कि वह एक अच्छे यूरोपियन हैं। वे दुनिया-भर के सारे प्रभावों को उदारता से ग्रहण करते रहे, पर ये प्रभाव महत्त्वपूर्ण नहीं, उनके हृदय की मानवतावादिता मुख्य है। इनका प्रभाव नई कविता पर सर्वाधिक पड़ा।''

डेविड एण्डरसन ने पाकिस्तान में सन् १९६३-६४ ई० में अमेरिकी साहित्य पढ़ाया। उनके भाषण एक ग्रन्थ में छपे हैं, जो कराची-विश्वविद्यालय ने छापा है। 'आधुनिक अमेरिकी उपन्यास : अर्थ की खोज' नामक आठवें अध्याय में वे लिखते हैं : ''**साल बेलो** और **जे० डी० सैलिजर** दो महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं, जिनमें बेलो अधिक चौड़े कैनवास पर लिखते हैं। सैलिजर की दुनिया सीमित है और उनके पात्रों का प्रेम 'सिन्थेटिक द्रव्यों से से निर्मित और प्लास्टिक-लिपटा' है।......अमेरिका में भी अ-उपन्यास का भयानक दौर शुरू हो गया है—**जैक कैरुआक** के किशोर-प्रलाप, **हेरमान वाउल्क** की भावुकता और प्रभावशून्य फासिज्मप्रियता और **ग्रेस मैटालियस** की सेक्स-सनसनी-भरे अनपढ़पन को बड़ा महत्त्व और काफी पैसा भी मिल रहा है, यह दुर्भाग्यपूर्ण है।'' **जैक कैरुआक**, जिसने 'ऑन दि रोड' और 'धर्मा बम्स' लिखे थे, बेचारा हाल ही में मर गया। वह गद्य उसी तरह धमाके के साथ गत दशक में उठा, जैसे पद्य में **गिन्सबर्ग**।

इधर 'वाइस ऑव अमेरिका फोरम लेक्चर्स' ने 'कण्टेम्पोरेरी अमेरिकन पोएट्री' नामक एक मनोरंजक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसमें कवियों के बारे में वक्तव्य और प्रश्नोत्तर दिये हैं। **हॉवर्ड तेमेरोव** ने चार प्रश्न पूछे थे : १. जबसे आपने कविता लिखना आरम्भ किया, क्या तबसे अब कविता का रूप बदल गया है ?'' २. ''क्या कविता में क्रान्ति कभी थी, या कभी होगी भी, या यह सिर्फ कुछ शिल्प-शैली की युवितयाँ हैं, जो बदलती हैं ?'' ३. क्या आपकी कविता में दुनिया जो इस शताब्दी में बदली है, उसका प्रभाव पड़ा ?'' ४. ''आलोचना का मुख्य प्रयोजन क्या है ? आपको कोई आलोचना पसन्द है (या जो आप सह सकते हैं) ?'' सोलह कवियों ने उत्तर दिये हैं, उनमें से दो नमूने दे रहा हूँ : ये **स्वेन्सन** ने 'कविता और विज्ञान-युग में अनुभव' में कुछ सूत्र दिये हैं (पृ० १९८) :

कविता कुछ कहती नहीं; वह दिखाती है। गद्य कहता है।
कविता दर्शन नहीं; कविता चीजों को यहीं बना देती है।
वह कल्पना नहीं; 'होना' है।
कविता संगीत नहीं; पर वह बताते हुए ध्वनि करती है।

वह गतिशीला है; वह एक प्रक्रिया है, एक ही स्थान पर एक वस्तु सक्रिय-प्रतिक्रियभाण।
वह विचार नहीं, उसे तो पूरी संवेदनाओं और मांसपेशियों से काम होता है।
वह नाचती नहीं; पर वह रहते हुए हिलती है।

ग्रेगोरी कोर्सो कहते हैं पृ० २२८ पर—"अरे 'जन्म-निरोध' का शोर भीड़-भरा मानव करता है, 'मृत्यु-निरोध' कौन करेगा ? मनुष्य ने इसी धरती पर नरक बना रखा है। मनुष्य और किसी कारण से नहीं मरते, जितने मनुष्य के हाथों से मरते हैं। यह मनुष्य-रोग बराबर चल रहा है। उसने मृत्यु का व्यापार, दुर्गन्धित व्यवसाय बना डाला है। हमें सबको ही मरना है—पर कैसे मरते हैं, यही महत्त्वपूर्ण है।...इसलिए, आज के कवि को कवि से भिन्न बनना है। अब उसे हृदय और आत्मा, शरीर और प्राण, सौन्दर्य और कुरूपता, सत्य और असत्य के बीच बारीक भेद करते बैठने की फ़ुरसत नहीं। उसे सिर्फ मानव बनना है, शुद्ध मानव। उसे मानवता के सदसद्विवेक (ज़मीर) का प्रतिरक्षक बनना है : एक कवि मरा, तो उसका पहरा देने के लिए दूसरा उसके स्थान पर आयगा। यह चेतना बढ़नी चाहिए।"

दो ग्रन्थ हाल में छपे हैं, जिनके नाम सिर्फ देता हूँ; उद्धरण देना तो कठिन होगा, जिसमें भारतीयों द्वारा अमेरिकी साहित्य पर समीक्षा-लेख लिखे गये हैं : **सी० डी० नरसिंहय्या**-सम्पादित 'इण्डियन रिस्पांस टु अमेरिकन लिटरेचर' और दूसरा **सुजित मुखर्जी** और **राघवाचार्युलु**-सम्पादित 'इण्डियन एसेज ऑन अमेरिकन लिटरेचर'। इनमें कई अच्छे लेख गत दशक के नये लेखकों पर भी हैं। **नरेह गुह** ने 'बीट सीन' पर लिखते हुए कहा है : "ये लोग समूह-संगठित समाज को शत्रु मानते हैं। वह भ्रष्ट, ढोंगी, स्वार्थी और सन्तुष्ट है। इस विश्व की समस्याएँ हमसे नहीं सुलझ सकतीं। सो मारो उन्हें गोली, भविष्य में विश्वास रखो, नाचो, गाओ, मस्त रहो। **गैरी स्नाइडर** 'ज़ेन' बौद्ध धर्मपन्थ का पुजारी है; **गिन्सबर्ग** गान्धी की रामधुन और बंगाल का 'हरेकृष्ण' भजन गाता है। सैनफ्रांसिस्को में कई कवियों के निजी पूजागृह हैं, उनमें हिन्दू 'टाँका' पर लटके हैं। 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण' क्यों गाते हो ? पूछने पर एक कवि ने कहा—'यह हमारी आतमचेतना को ऊर्ध्व बनाता है !' (पृ०३४८)

कोस्टेलनेल के 'विजन्स ऐण्ड रिवीज़न्स' नामक महायुद्धोत्तर अमेरिकी कविता पर लेख में **हार्वे शापिरो** की एक कविता का उद्धरण है, जिसका शीर्षक है 'नैशनल कोल्ड स्टोरेज कम्पनी' :

गये सात सालों में मैं भी उसमें डाल दिया गया
रात को बिस्तरे पर छटपटाना, पलायन की योजनाएँ, 'शेक' नाच।
क़समें आप राष्ट्रीय जोड़ और जोड़ दीजिए—
ग्रैण्ट की समाधि, सिविल युद्ध, आर्लिंगटन,
तरुण प्रेसिडेण्ट की हत्या....
शायद इस कबाड़खाने में एक राक्षस जन्म ले रहा है

जो वकासुर सब कुछ खा जाता है—जहाज, कविताएँ,
सितारे, हमारे जीवन के सार सारे वर्ष;
(अमेरिकन रिव्य, अक्टूबर, '६९ पृ० ५३)

जर्मन-साहित्य : पश्चिम साहित्य का एक उत्तम नमूना जर्मन-साहित्य में मिलता है। पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के साहित्य में गत दशक में हिंसा और युद्ध के प्रति घोर घृणा पैदा होती गई है। वहाँ 'दुनिया के गीअर में तेल नहीं रेत बनो' कहनेवाले **एनसेन्सबेर्गेर** जैसे क्रुद्ध कवि हैं, तो स्पष्टवादिनी **हुंगेबोर्ग बाखमान** जैसी कवयित्री है, जो लिखती है :

तुम्हारी आँखों के भीतर खिडकियाँ है
ऐसे देश के लिए यहाँ मैं साफ खडी हूँ
तुम्हारे वक्ष के भीतर समुद्र है
जो मुझे अपने तल में खींच ले जाता है
तुम्हारे नितम्बों में वह पड़ाव है, 'जेटी' है,
जहाँ मेरे जहाज लम्बी यात्राएँ कर घर लौट आते हैं।

गुण्टर आइश नामक कवि के कुछ सूत्र देखिए :

—जो कवि किसी को डराते नहीं, वे सिर्फ चर्चा के विषय होकर रह जाते हैं।
—याद रखो—कोरिया और बिकिनी नक्शे में नहीं, तुम्हारे हृदय में मिलेंगे।
—एक कविता है 'सूची', इसमें एक युद्ध कैदी का वर्णन है।

यह मेरी टोपी है। यह मेरा कोट है। यह कपड़े की थैली में मेरा हजामत का सामान है। वह प्लेट है कप है, टिन का टभरेल है। मैंने अपना नाम धातु में कुरेदा है। इस मूल्यवान् कील से खरोंचा है, जिसे मैं लोगों से बचाकर रखता हूँ। मेरे झोले में ऊनी मौजे हैं और ऐसी चीजें हैं, जिनके बारे में किसीसे नहीं कहता; इस तरह से रात को यह झोला मेरा सिरहाना बन जाता है। यह लकड़ी का तख्ता मेरे और फर्श के बीच में बिछ जाता है। पेंसिल का सीसा मुझे बहुत प्रिय है। रात को जो पक्तियाँ रचता हूँ, दिन को उससे लिख लेता हूँ। यह मेरी नोटबुक है, यह तारपोलिन है, यह तौलिया है, यह डोरा है।

—हमारे शब्द इस नीरवता ने नोट कर लिये हैं। गटर के ढक्कन अब फट पड़ेंगे। रास्ते के निशान-पटिये अब पीठ फेर ले रहे हैं।

—वह नीले जाकिटवाला आदमी घर लौट रहा है; उसका हल जो कन्धे पर है, इस सन्धि-प्रकाश में राइफल जैसा लग रहा है।

जर्मनी का सबसे अधिक सशक्त गद्यलेखक **गुइण्टर ग्रास** है। उसकी शैली की एक विशेषता **अरिगो सुबिओत्तो** अपने निबन्ध में वर्णित करते हैं (एसेज़ आन कण्टेम्पोरेरी जर्मन लिटरेचर, पृ० २३०) : "ग्रास के उपन्यासों का एक विशेष गुण साहित्यिक पैरोडी है। किसी भी समय **ग्रास की** भाषा-शैली **गोएटे** या **काफ्का, मन्न** या **बेन्न** की नकल उतारने लगती है। आधुनिक दार्शनिक, अभिव्यंजनावादी, **हिटलर** या जनसाधारण की बोली या

असन्त काव्यमय वर्णन सब गुत्थमगुत्था एक साथ चलते हैं। यह केवल अनजान में किया हुआ व्यंग्य-परिहास नहीं, यह जान-बूझकर ऐसा संयोजन होता है, जिससे ग्रास बड़ा तगड़ा प्रभाव पैदा करता है। उदाहरणार्थ : 'हुण्डे जाहरे' उपन्यास में अस्तित्ववादी दार्शनिक **हाइडेग्गर** का यों मजाक उड़ाया गया है। **स्टोइर्ट बेकर** नामक पात्र एक फौजी कैम्प में चूहे मार रहा है और नाली में फेंक रहा है; तब वह विचार करता है : "अब चूहा पीछे सिमटकर अपने चूहेपन में छिप जाता है। ऐसा करने में चूहा अपने चूहेपन को उलझन में डाल देता है। क्योंकि, इस प्रकार उसकी संख्या-गुण में कमी आ जाती है। चूँकि, चूहापन उलझन में परिणत होता है, इसलिए वह चूहापन चूहे के आसपास चक्कर काटता है और यहाँ तर्क-दोष पैदा हो जाता है। यही मिथ्याभास सारे इतिहास के 'हैं'—पन का क्षेत्र है।" यह उपन्यास सन् १९६६ ई० में प्रकाशित हुआ। अब **ग्रास** 'एबार्ड' नाटक लिख रहे हैं। कुछ 'एग्जैण्टे' पत्रिका में प्रकाशित भी हुए हैं।

पूर्वी जर्मनी में भी काफी साहित्यिक हलचल है। जर्मनी के विभाजन का दर्द बराबर दोनों तरफ नाटक-उपन्यासों में उभरा है। **रेईनेकर** के नाटक 'नाख्टज ुग' (सन् १९६३ ई०) या **जूरी ब्रेजान** के उपन्यास 'आइने लेइबेसगेशिश्टे' (सन् १९६३ ई०) में यह दर्द उभरा है। इसपर फिलम भी बनी। इस उपन्यास के अन्त में नायिका रीता का प्रेमी मैनफ्रीड कुरफुर-स्डाम के एक रेस्टोराँ में कहता है : "क्या तुम नहीं समझती कि मुझे भी एक बार आशा थी ? मैं भी एक बार सोचता था कि दुनिया से बुराई समूल उखाड़ सकूँगा ? पर, बुराई के तो हजार मूल हैं। वह उखाड़ी नहीं जा सकती। यह प्रयत्न करते रहना बड़ा दिव्य है, पर विना विश्वास के यह सब 'फार्स' है !"

जो दर्द दोनों जर्मनी में व्याप्त है, उससे भिन्न दर्द फ्रांस के गये दशक के साहित्य में, या स्वीडन या इटली के साहित्य में मिलता है। **सेम्पेर्स** या **क्वासिमीडो** की कविता पढ़ने पर लगता है कि **बादलेयर** या **डाण्टे** से हम कितने दूर निकल आये हैं। **फ्रांस्वा सागान** या **सिलोनी** या **राइबर्ग** का गद्य पढ़ने पर लगता है कि यहाँ शिक्षक का पुनराख्यान किसी विशेष उद्देश्य से किया जा रहा है, और **विक्टर ह्यूगो** या **हान्स हेण्डरसन** या **बोकैचियो** की किस्सागोई यहाँ आकर जीवन के अत्यन्त विदारक और क्षोभकारी झलक को प्रस्तुत कर रही है। पुरानी शैलियों का यहाँ प्रत्याख्यान होता जाता है, केवल उस अनाख्यात की ओर इशारा करने के लिए, जिसके लिए मनुष्य तड़प रहा है। युद्ध की बिभीषिका को लेखक जान-बूझकर भुला दे रहे हैं। वे सामाजिक समता के सपने का भी शीशमहल चूर-चूर होते देख चुके हैं। बन्धुता और समता की यह दुर्दशा देखकर अब उनका विश्वास और आस्था जैसे निरी बन्धुता पर है।

साम्यवादी देशों का साहित्य : पश्चिम की कोई भी साहित्यिक चर्चा साम्यवादी देशों की चर्चा के विना पूरी नहीं हो सकती। सोवियत रूस में **गोर्की**-शती के अवसर पर रूसी महान् लेखकों का पुनर्मूल्यांकन हुआ, **टॉलस्टाय** की पचासवीं पुण्यतिथि कुछ वर्षों पूर्व हुई, अगले वर्ष लेनिन-शताब्दी आ रही है। 'सोवियत-साहित्य' के गोर्की-विशेषांक में एक पत्र गोर्की का तालस्ताय को लिखा छपा है २६ या २७ फरवरी, १९०० ई० का, **नोव्गोरोद** से। उसका एक अंश बराबर याद रखने लायक है : "मैं नहीं जानता कि अपनी किताबों से

मैं ऊपर और बेहतर हूँ या नहीं, परन्तु प्रत्येक लेखक को अपने लेखन से ऊपर और बेहतर होना चाहिए। क्योंकि किताब क्या है ? बड़ी-से-बड़ी किताब शब्द की मृत काली छाया-मात्र है और सत्य के प्रति संकेत-मात्र है। जब कि मनुष्य जीवित ईश्वर का मन्दिर है। मेरे लिए ईश्वर पूर्णता सत्य और न्याय की ओर अतृप्यमान खोज है। और इसीलिए, एक अच्छी किताब से एक बुरा मनुष्य कहीं बेहतर है। है या नहीं ?' (१९६८, तृतीय संख्या, पृ० १३१) गोर्की ने मनुष्य को देवता बनाने का जो पन्थ चलाया था, वह दुर्भाग्य से सोवियत-साहित्य में सदा नहीं चल सका। **पास्तरनाक** और उनके भी बाद **एयतुशेंको** और **बोज्दोयोवस्की** तक आते-आते कवियों में और उपन्यास में **द्यु दिन्त्सोव** और उनके बाद 'वैरकर्म एक दिन' तक स्थिति बदलती गई है, परन्तु साम्यवादी देशों में भी अब केवल प्रचारात्मक कविता या केवल आशावादी 'पाज़ीटिव' नायक अब इतनी बड़ी आवश्यकता नही रही है। **दोस्तोवेएस्की** के बारे में सोवियत आलोचकों की राय बदली है। **अन्ना अख्मातोवा** अब निराशावादी कवयित्री नहीं रही। एक कारण तो चीन में बुद्धिजीवियों का निष्कासन और आत्महत्याएँ हैं : **तिर्गलिग** का क्या हुआ ? और **लिन्-शिआओ** का क्या हुआ ? सामूहिक आर्थिक सुधार की कीमत क्या कला और संस्कृति की सारी परम्पराओं को नष्ट करने से ही दी जा सकती है।

बहरहाल, इस प्रश्न की चर्चा साम्यवादी देशों में शुरू हो गई। और युगोस्लाविया, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में साहित्यिक प्रश्नों की पुनर्व्याख्या बड़े जोरों से हुई। गत वर्ष में **ईवो आन्द्रिच** की रचनाएँ इसकी साक्षी हैं और अन्य देशों में भी सब कुछ केवल 'आदेश के आधार पर' ही नहीं लिखा जाता। परन्तु, उस राजनीतिक चर्चा में यहाँ पड़ना व्यर्थ है। इतना ही संकेत से कहना काफी होगा कि जैसे अमेरिका में सभी लेखक अमरीकी जीवन-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं। (**जॉनसन** की पार्टी में **लौवेल** और कई लेखक नहीं गये), वैसे ही साम्यवादी देशों में भी अन्तर्मन्थन शुरू हो गया है। कोई भी लेखक 'जकड़बन्दी' में अधिक समय नहीं रह सकता, चाहे वह विलास और भौतिक सुख-सुविधा की हो। चाहे निरे 'वाद' के मूढग्राह की हो।

हम समझते हैं कि पश्चिम के गये दशक के साहित्य की इस झाँकी से हम यही सीख ले सकते हैं कि 'अरे इन दोउन राह न पाई'। 'ईशावास्योपनिषद्' में सम्भूति और असम्भूति के दोनों ही मार्ग एक से अच्छे बताये गये हैं। भारतीय साहित्य को तीसरा नेत्र खोलकर ही देखना होगा। त्रिगुणात्मक सृष्टि से त्रिगुणातीत के प्रति जाने का वही तीसरा रास्ता है। वही अतिवाम और अतिदक्षिण के बीच का 'सुवर्णमध्य' या 'मज्झिम-निकाय' है।●

१३०, रवीन्द्रनगर
नई दिल्ली—३

रामचरितम् : पाट्टु-शैली का रामकाव्य

● प्रो० एम्० श्रीधर मेनन

रामचरितम् मलयालम-काव्यशाखा की उपलब्ध कृतियों में से प्राचीनतम माना जाता है। इसमें रामायण के युद्धकाण्ड की कथा संक्षेप में बताई गई है। ग्रन्थ में १६४ परिच्छेद (पटल) हैं और अधिकांश परिच्छेदों में ग्यारह-ग्यारह पद (पाट्टु) तथा समूचे ग्रन्थ में कुल १८१४ पद हैं। प्रयुक्त छन्दों की संख्या बीस है, जिनमें कई अनन्तरकालीन छन्दों के प्राग्रूप हैं। प्रत्येक पाट्टु में चार-चार चरण हैं और प्रत्येक चरण के दो-दो खण्ड। पादों के दूसरे वर्णों और प्रत्येक पाद के दोनों खण्डों के आदि वर्णों में समता पाई जाती है, जिन्हें क्रमशः 'एतुक' और 'मोन' कहते हैं। उदाहरण के लिए एक पाट्टु नीचे दिया जाता है :

चरण १ : तारिणंकिन तषै वकुषलमलरत्तय्यल भुलै—
त्तावलत्तिलिलकोललु मरविन्तनयना;
चरण २ : आरणंकलिलेलङु परमयोकिकलुष—
न्टालुमे नु मरिवानरिय ञानपोरुले,
चरण ३ : मारि वन्ततोरु मामलयेटुत्तु तटयु
मायने, अरचनाय् निचिचरातिपतिये
चरण ४. पोरिल नी मुन्नम् मुटित्तमयेटुत्तु पुकषवान्
पोकिपोकशयना, कवियेनिक्करुल चेय्ये।

(हे अरविन्दनयन, जो पुष्पालंकृत केशवाली सुमवनिता (लक्ष्मी) के स्तनों पर विश्राम करते हैं, हे ज्ञान का तत्त्व, जिसे वन में हर जगह घूमने पर भी, परम योगीजन कभी जान नहीं पाते हैं, हे मायावान्, जिसने आई हुई वर्षा को पहाड़ उठाकर रोका, हे साँप की शय्या पर लेटनेवाले, तू ने राजा होकर राक्षसराजा को लड़ाई में पहले मार डाला था; तेरे उस कार्य की प्रशस्ति गाने योग्य कविता मुझे कृपया दे दे।)

रामचरितम् का कथानक मुख्यतः युद्धकाण्ड का है, फिर भी प्रासंगिक रूप से रामायण के दूसरे प्रसंग भी इसमें आये हैं। उदाहरण के लिए, चित्रकूट-दर्शन के बाद की घटनाएँ श्रीराम के राजतिलक के अवसर पर हनुमान् ने भरत को सुनाया है। वाल्मीकिरामायण ही मुख्यतः कवि का आदर्श-ग्रन्थ रहा है। लेकिन, इधर-उधर तमिष् के महाकवि कम्बन का प्रभाव स्पष्ट उपलक्षित है और कहीं-कहीं कल्पना का पुट भी मिलाया गया है।

रामचरितम् के कवि और काल के सम्बन्ध में मतभेद है। जनश्रुति के अनुसार इसका लेखक तिरुवितांकूर के आदित्यवर्मा नामक कोई राजा है। मलयालम के प्रसिद्ध कवि,

समालोचक, इतिहासकार एवं भाषाविद् उल्लूर परमेश्वर अय्यर की राय में यह विश्वसनीय नहीं है। वे कहते हैं कि कवि तिरुवितांकूर-राजपरिवार का रामवर्मा नामक एक राजा है और उसका शासनकाल सन् ११९५ और १२०८ ई० के बीच पड़ता है। साहित्य के इतिहास के लेखक नारायण पणिक्कर अपना कोई निश्चित मत प्रकट न करते हुए भी, उल्लूर के अभिप्राय का खण्डन करते हैं। मूलग्रन्थ में लेखक ने अपने को 'आतितेवनिलमिषन्त मनकांपुटय चीरामन्' (चीराम, जिसका मन आदिदेव में लीन है) कहा है। उल्लूर की राय में 'चीरामन' 'श्रीराम' का तद्भव रूप है और पणिक्कर के अनुसार 'शिवरामन्' का बिगड़ा हुआ रूप हो सकता है। 'तपतीसंवरण' आदि संस्कृत नाटकों के व्याख्याता एक शिवराम का उल्लेख इतिहास में है भी, जिनका जीवनकाल बारहवीं शती ईसवी के बाद है। पणिक्कर आगे कहते हैं कि **रामचरितम्** का कर्त्ता कोई रामवर्मा हो, तब भी वह तिरुवितांकूर-परिवार का बारहवीं शतीवाला रामवर्मा नहीं हो सकता, पन्द्रहवीं शती का 'चिरवाय्'-परिवार का एक रामवर्मा ही हो सकता है; क्योंकि **रामचरितम्** बारहवीं शती की रचना नहीं, बहुत बाद की है। उनका एतदर्थ तर्क यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखे हुए 'लीलातिलकम्' नामक व्याकरण-ग्रन्थ में न **रामचरितम्** का कोई उद्धरण आया है, न उसका नामोल्लेख ही है। **रामचरितम्** की हस्तलिखित प्रतियाँ केरल के अनेक भागों से प्राप्त हुई हैं। इतने प्रसिद्ध एक ग्रन्थ का जिक्र जब 'लीलातिलकम्' में नहीं है, तब निश्चय ही वह बाद की रचना है। विपक्ष में उल्लूर कहते हैं: "लीलातिलकम् 'मणिप्रवाल'-शैली का व्याकरण-ग्रन्थ है, न कि 'पाट्टु'-शैली का। 'पाट्टु' का जो लक्षण उसमें दिया गया है, वह प्रासंगिक-मात्र है और लेखक ने उदाहरण के तौर पर कोई एक प्रसिद्ध 'पाट्टु' उसमें रखा है, जो संयोग से **रामचरितम्** का नहीं हो पाया।" अधिकांश समालोचक उल्लूर से सहमत हैं। ('मणिप्रवालम्' और 'पाट्टु' प्राचीन मलयालम की दो काव्य-शैलियाँ थीं। 'लीलातिलकम्' में दोनों की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—**भाषासंस्कृतयोगो मणिप्रवालम्, द्रविडसङ्घाताक्षरनिबद्धमन्तुकामानवृत्तविशेषयुक्तं पाट्टु।**)

रामचरितम् की भाषा पर विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। किसी की राय में वह एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा है, जिसपर तमिष् का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। मलयालम के प्रथम साहित्येतिहासकार **स्व० गोविन्दपिल्ला** के मत में, चूँकि उसमें संस्कृत के शब्द बहुत कम हैं, इसलिए वह संस्कृत के दक्षिण केरल में फैलने के बहुत पहले लिखा गया होगा, कोई भी मलयालम-भाषाभाषी उसे पढ़कर अब भाव समझ नहीं पायगा। लेकिन, यह बात निश्चित है कि उन दिनों में प्रचलित भाषा में यह ग्रन्थ रचित है। नारायण पणिक्कर की राय है कि 'रामचरितम्' की भाषा उस समय की व्यावहारिक भाषा नहीं है, बल्कि तमिष् और मलयालम की दक्षिण में प्रचलित एक मिश्रशैली है। कोई-कोई तमिष्-लेखक उसे तमिष्-भाषा की एक कृति ही मानते है और कहते हैं कि मलयालम् का उसपर कोई हक नहीं हो सकता।

उल्.ल्.र ने भाषिक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि न **रामचरितम्** की भाषा साहित्यिक तमिष् है, न वह एक तमिष्-कृति है। पणिक्कर के मिश्रभाषावाद को भी वे नहीं मानते; क्योंकि अगर बात वही थी, तो इस ग्रन्थ का सारे केरल में प्रचार सम्भव नहीं था और **रामचरितम्** की प्रतियाँ केरल के कई एक प्रदेशों से उपलब्ध हुई भी हैं। उनकी राय में **रामचरितम्** अपनी समसामयिक पाट्टु-कृतियों की भाषा में लिखी हुई है।

कविता के नमूने के रूप में नीचे दो-तीन पाट्टुओं का उद्धरण दिया जाता है। रावण के प्रति विभीषण की उक्ति इस प्रकार है, राम की स्तुति के रूप में :

वेन्तरकोन तनयनायि विण्णवरक्कमुतायुलि.लल
चांति चेर मुनिवर तेट्. तनिमरक्कातलाकि
पू.तषैक्कुष.लाल चीतैपुणरणिमुलक्कुप्पूण्पाय्
आरन्तषुमरक्कर नंचाय् अवनवतरित्त्.तय्या

(राजा के पुत्र के रूप में, देवों के लिए अमृत के रूप में, शान्तियुक्त मनवाले मुनिय द्वारा अन्वेषित वेदसार के रूप में, घने केशवाली सीता के स्तनों के भूषण के रूप में शासन करनेवाले राक्षसों के लिए विष के रूप में वह अवतरित हुआ है।)

इन्द्रजीत के मारे जाने पर रावण का विलाप द्रष्टव्य :

तनिमरं मूलमट्टु. तरणियिल् वीषन्त पोले
कनमषिन्तवनि मीतु कमिषन्तवन् वीषन्तुणर्न्तु
मनुकुलवीरनम्पाल मरलि तन पुर पुकुंत
तनयन् तन चरितं पेच च्चमयन्तननखकरकोमान
इतमिविट्ट वकुर्न्तां एन्नंयु कलैन्तु चेम्मै
मतुमोषियाले मटोतरियेयु अर मरन्तु
कतिरवन कुलत्तु. मन्नन कणकलांतुणयुमाय् नी
उतिरवुमणिन्तु कालनुरविट्ट पुकुंतु कोंटु.

× × ×

अटलिटे अचुरर उम्पर् अपरचारिमार —
भटि.टटयिट वकविकलवेन्तर इन्तिरनिवरकल् काणे
अटलिटे भनुचनपेट्टु.टैन्तु नी वीषन्तुते निन
मुटिवु वन्ततिलुमेट्टं मुषुत्तितु तुयरेनिक्के

[जैसे कोई पेड़ जड़ कट जाने से भूमि पर गिर जाता है, वैसे अधीर होकर वह (रावण) जमीन पर बेहोश होकर पेट के बल गिरा; फिर वह राक्षसराजा होश में आकर, मानवकुलवीर (लक्ष्मण) के तीर से यमपुर प्राप्त अपने पुत्र का चरित कहने लगा :

तूने मुझे छोड़ दिया, मधुवाणी मन्दोदरी को पूर्ण रूप से भूल गया और सूर्यवंश के राजा के तीरों की सहायता से, रक्तरंजित होकर, काल के यहाँ पहुँच गया। क्या यह इसलिए कि घर के प्रति तेरा प्रेम कम हुआ? असुर, देव अम्बरचारी लोग, कवियों के

राजा (शुक्र), इन्द्र आदि लोगों के देखते, तू युद्ध के बीच मर गया। इसके कारण मुझे भारी दुःख हो रहा है।]

सीतापहरण के प्रसंग में रावण का सच्चा रूप देखिए :

मायामायतु मरैन्त नेरं वलरकालमेघ पटलंकल् नेर
पोयिट पेट्टु मुटम्पु, मेरु चिकरकल् पोल पल चिरकल् म्
तूय वेल्ले किरु वनचरावलि तोट्टुव कैकल् मट्टुतुक-
ण्टूयलाटु मनमोट्टु चानकि अलैन्तु मुरकोलिनाल्

(जब माया हट गई, तब जानकी ने देखा कि पास ही में कालमेघों के समूह से लड़नेवाला शरीर, मेरु-शिखरों के समान सिर, गोरी दंष्ट्राएँ, एवं जंगली जानवरों को पकड़े हुए हाथ पड़े हैं, और वह कम्पित मन होकर रोने-कलपने लगी।)

रामचरितम् पर प्रसिद्ध लेखक श्रीपरमेश्वरन् नायर का एक उद्धरण यहाँ बहुत समीचीन होगा—"यद्यपि आम तौर से कविता की गति वाल्मीकिरामायण के अनुसार ही है, तथापि ऐसे बहुत-से प्रकरण हैं, जहाँ विशिष्टता स्फुटित होती है। रामकथा का अथाह अवगाह भावों की सचाई, गेय शब्द-निवेश, सर्वांगीण सरलता आदि रामचरित की कविता की विशेषताएँ हैं। जिस कविता-शैली (पाट्टु) को ग्रहण किया गया है, उसके 'एतुका', 'मोन' आदि लक्षण, विना प्रयत्न के, लाने की क्षमता कवि ने दरसाई है।" यद्यपि यह काव्य की ऊँची अधित्यकाओं के प्रवेश का हकदार नहीं है, फिर भी रामचरित की कविता का गुण, भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को छोड़ दें, तो सभी कालों के सहृदयों को प्रसन्न कर सकती है, इसमें कोई संशय नहीं है। ●

राजकीय प्रशिक्षण-महाविद्यालय
रामवर्मपुरम्, त्रिचूर (केरल)

परम्पराशील नाट्य : एक सम्मति

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४ द्वारा प्रकाशित 'परम्पराशील नाट्य' श्रीजगदीशचन्द्र माथुर की लोकनाट्य-विषयक अनुभवकृति है, जिसमें लेखक ने भारत के विभिन्न अंचलों में प्रचलित नाट्यविधाओं का अखिलभारतीय परिवेश में व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।...यह पुस्तक लोकनाट्यकर्मियों, अनुसन्धित्सुओं तथा अध्येताओं के लिए एक ऐसा सन्दर्भ-संग्रह है, जिसके विना लोकनाट्य-विषयक अध्ययन शायद अधूरा-सा लगेगा।

[रंगायन (मासिक), उदयपुर, अक्टूबर, १९७१ ई०]

वैष्णव धर्म : एक दृष्टि

● प्रो० सीताराम शर्मा

विश्वव्यापी जीवन-प्रवाह में धर्म एक गति है। 'मानव-सभ्यता के विकास में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है।'[१] मानव-समाज के जीवन का केन्द्र यह धर्म प्राचीन काल से ही इहलौकिक और पारलौकिक सुखों का अखण्ड स्रोत रहा है। धर्म एक प्रकाश है, एक विभूति है, अनन्त ऐश्वर्य है, जिसके द्वारा मानव अशुभ कर्मों, अनाचार और अदम्य वासनाओं का शमन कर दिव्य जीवन की ओर अग्रसर होता है। निखिल चराचर जगत् धर्म से व्याप्त है। 'अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों का साधक धर्म है।'[२] धर्म सृष्टि के साथ ही प्रादुर्भूत हुआ है। धर्म के महत्त्व का वर्णन ऋग्वेद में भी पाया जाता है। **विश्वदानीं सुमनसः स्याम**[३], अर्थात् 'सर्वदा प्रसन्न रहें; क्योंकि मनःप्रसाद से समस्त आपदाएँ शान्त हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में लोक-हितैषणा में लगे रहना ही तो मनःप्रसाद का हेतु है, जो सच्चा मानव-धर्म है।' इसी प्रकार, ऋग्वेद में अन्यत्र धर्म का महत्त्व इंगित किया गया है---**पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः**, अर्थात् मानव की रक्षा करें, यह मानव-धर्म का मूलमन्त्र है। अनन्त और नित्य ज्ञानोदधि वेद ने **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा** कहकर धर्म को विश्व की—जगत् की प्रतिष्ठा बतलाया है। जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें धर्म विद्यमान न हो; ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसमें धर्म की सत्ता न हो। धर्म की व्यापकता स्वयं धर्म से प्रकट है।[४] लोकहित का सम्बल यह धर्म भारतीय हिन्दू-जीवन का मेरुदण्ड है। जीवन में दिव्यता, विशालता, उदारता तथा सबके प्रति निर्मल प्रेम धर्म की सहज अभिव्यक्ति है। अभ्युदय और निःश्रेयस् की भावना से पूर्ण यह धर्म साधक को साध्य-तत्त्व की ओर उन्मुख करता है। अतः, सर्वसमर्थ परमेश्वर में स्थिति ही वास्तविक रूप में धार्मिक जीवन की कसौटी है। दिव्यता, विशालता, प्रेमादि जब कभी दूषित वातावरण के अत्यधिक प्रभाव से तिरोहित होने लगते हैं, तभी जीवन के इस अभिन्न गुण को सुदृढ करने के लिए प्रभु का अवतार होता है; क्योंकि जगत् धर्म का आधार है, और धर्म का ह्रास सम्पूर्ण अस्तित्व के ह्रास का द्योतक है। इसलिए धर्म प्राणी का आधार है, उसके दिव्य जीवन का विधायक है। संसार में अनेक धर्म, नाना मत, अगणित सम्प्रदाय हैं। प्रत्यक्षतः उन सबका उद्देश्य एक ही है---मानव-हृदय में परस्पर एक आध्यात्मिक सम्बन्ध के बोध को---मानव-मात्र के प्रति भ्रातृ-

१. नीतिविज्ञान : गोवर्द्धनलाल, १९२३, पृ० २०।
२. 'यतोभ्युदयनिश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।'—कणाद, वैशेषिक १।२।
३. ऋग्वेद, ६।५२।५।
४. धर्मांक ('कल्याण', गोरखपुर), पृ० १९।

भावना और परम साध्य (भगवान्) के प्रति पितृ-भावना अथवा मातृ-भावना को जाग्रत् करना । भारत धर्मप्राण देश है । यहाँ के कण-कण में धर्म की भावना बिखरी पड़ी है । प्राचीन काल से ही यह भारत अनेक धर्मों तथा धार्मिक सम्प्रदायों का पीठस्थल रहा है । शैव, वैष्णव बौद्ध और जैन आदि रूपों में धर्म ने भारतीय धार्मिक जीवन और काव्य-धारा को आदिकाल से प्रभावित किया है । वैष्णव धर्म हिन्दू-धार्मिक समाज का प्रमुख अंग है और किसी-न-किसी रूप में आज भी भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में जीवित और प्रचलित है यह धर्म अनेक प्रारम्भिक काल से ही भक्ति-प्रधान रहा है, जिसमें वर्ण-विशेषता को कभी विशिष्ट महत्त्व नहीं मिला । गुरु को प्रभु के समान समझना, प्रभु के सगुण रूप की उपासना करना, भगवान् की शाश्वत लीला में भाग लेना, आतमसमर्पण और प्रेम इस धर्म के मुख्य अंग थे और हैं ।[१] सिद्धान्तों की दृष्टि से वैष्णवधर्म धार्मिक विचारों की एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा है, जिसके समर्थकों और अनुगामियों में असंख्य ईश्वरभक्त, उद्भट विद्वान् एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हो चुके हैं । अत्यन्त मौलिक और उदार धर्म होने के कारण इसके समर्थन और प्रचार के निमित्त संख्यातीत ग्रन्थों का निर्माण हुआ है । महापुरुषों, सम्राटों और राजवंशों का सहयोग इसके विकास में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुआ है । जनता की प्रचलित भाषा में सरल एवं सुगम सर्वजनोपयोगी भक्ति-सिद्धान्त का रसमय प्रचार तथा लौकिक जीवन के अन्तर्गत आकर्षक परिचित चरित्रों में लीला मय भगवान् के आंशिक रूप की भावना का समन्वय कर, हृदयग्राही आदर्शों की सृष्टि के निमित्त इसका प्रयत्न करना सर्वथा स्तुत्य है ।[२] इस धर्म की विशेषता का प्रभाव केवल भारत की आर्यभाषाओं---संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बँगला, उड़िया, असमिया आदि के साहित्य पर ही नहीं, आर्येतर भाषाओं—तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के काव्य-ग्रन्थों में भी लक्षित होता है । यह धर्म अपने-आप में महान् है । इसने आराध्यदेव की अनन्त दया और प्रसाद का अधिकारी प्राणि-मात्रको समान भाव से माना है तथा प्रत्येक मानव के लिए प्रेम, प्रपत्ति आदि उपासना के सुलभ साधनों द्वारा ब्रह्म-सान्निध्य में अग्रसर होने का अवसर दिया है, जिससे इसके मूल सिद्धान्तों की सुगमता और व्यापकता तथा उसमें सन्निहित असीम उदारता का परिचय मिलता है । इस धर्म में हीन संकीर्ण प्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव है । यह धर्म निस्सन्देह महनीय धर्म है; क्योंकि मानव-हृदय में सौन्दर्य तथा माधुर्य भावों की वृद्धि कर उसे सरस रसस्निग्ध और आनन्ददायक बनाता है । इस उदात्त धर्म का चरम उत्कर्ष भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का सामंजस्य है । वैष्णव धर्म भक्ति-प्रधान धर्म है और भक्ति का सम्बन्ध मानव-हृदय से है । वैदिक वाङ्मय का लक्ष्य मानव की एकता की उद्घोषणा है । अतः, वैष्णव धर्म किसी भी मानव को भगवत्प्रेम से वंचित रखना नहीं चाहता है । इसका द्वार सभी वर्गों के मनुष्यों के लिए सर्वदा खुला है । **नारदभक्तिसूत्र** (७८) में स्पष्ट कहा गया है : "भक्ति-साधन के लिए ऊँच-नीच स्त्री-पुरुष, जाति, विद्या रूप, कुल, धन और क्रिया का कोई भेद नहीं है ।"[३] भगवान् ने गीता में भी कहा है कि मेरा प्रिय भक्त वही है, जिसका

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य, : डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३९ ।
२. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९ ।
३. देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप : डॉ० चमनलाल गौतम, पृ० ७ ।

किसी से द्वेष नहीं है, जो सब भूतों के साथ मित्रता का व्यवहार करता है एवं कृपादृष्टि से देखता है।[१] इसी में अन्यत्र कहा गया है : जो प्राणिमात्र में समानता का अनुभव करता हुआ मेरी परम भक्ति पाता है, वह मुझे सभी वस्तुओं में प्रिय है।[२]

वैष्णव धर्म ने इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप से माना और भक्ति के योग में किसी के अधिकारों का हनन नहीं किया। विष्णु-सान्निध्य का उद्घोषक यह धर्म प्रायः देश और विदेश दोनों में समान रूप से विकसित होता रहा है। इसमें संकीर्णता, असहिष्णुता और अनुदारता का पूर्ण अभाव है। इसके सुगम, सरल और महिमामय उदात्त स्वरूप से प्रभावित होकर विश्व की विभिन्न जातियों ने शुद्धि द्वारा इस धर्म में प्रवेश की इच्छा व्यक्त की, और विष्णु-चरणों में उन्हें आश्रय भी मिला, जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में मिलता है। हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आमीर यवन, खस आदि ही वे जातियाँ थीं, जिनका शुद्धीकरण वैष्णव धर्म की उदारता का शंखनाद है।[3] विदेशियों के वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का प्राचीन प्रमाण शिलालेखों में मिलता है। इस प्रसंग में तक्षशिला-निवासी परम भागवत 'हेलियोडोरस' नामक यवनदूत की चर्चा अनिवार्य है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के यूनानी शासक अन्तलिकितस (एण्टिअलकाइड्स) का दूत बनकर वह काशीपुत्र भागमद्र के दरबार में आया था। वह भागवत धर्म का अनुयायी और भगवान् विष्णु—वासुदेव का उपासक था। उसने अपने उपास्य देव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए विदिशा में एक गरुडध्वज की प्रतिष्ठा की थी। उक्त स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि में एक लेख उत्कीर्ण है, जो अब खण्डित रूप में है। इस शिलालेख में 'हेलियोडोरस' अपने नाम के साथ भागवत की उपाधि ग्रहण करता है। अतः, स्पष्ट है कि वह सवर्तोभावेन वैष्णव में दीक्षित हो गया था। हेलियोडोरस ने जिन अमोघ साधनों का उल्लेख अपने लेख के अन्त में किया था, उसका आधार महाभारत है। "वैष्णव धर्म और भारतीय संस्कृति के उस महान् ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर दम, त्याग और अप्रमाद को अमृतत्व का साधन स्वीकार किया गया है :'[४] गीता में दम और त्याग (कर्मफल-त्याग) की श्रेष्ठता और महिमा का अनेक स्थलों पर कथन किया गया है।[५] यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि हेलियोडोरस ने 'गरुडध्वज' स्तम्भ के साथ भगवान् विष्णु—वासुदेव का कोई पूजा-प्रासाद (देवमन्दिर) का निर्माण करवाया था या नहीं। इतना स्पष्ट है कि गीता और महाभारत के उपदेशों का प्रभाव विदेशियों पर पड़ा और उस काल उन्होंने भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) को स्वीकार कर अपना जीवन सफल किया था। वर्गशून्य धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के निर्माण में वैष्णव धर्म की उदारता का इसने बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है ?

---

१ 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।'— गीता, अध्याय १२, श्लोक १३।

२. वही, अध्याय १८, श्लोक ५४।

३ श्रीमद्भागवत, स्कन्ध २, अ० ४, श्लोक १।

४. 'दमस्त्यागो प्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्।' (महाभारत, १२।५।४३)

५ श्रीमद्भगवद्गीता, १६।१, २ और १८।२, ५१।

इस धर्म की विशेष महत्ता अहिंसा-सिद्धान्त के प्रचार में है। यद्यपि यह धर्म पूर्ण रूप में वैदिक है और अनन्त अपौरुषेय वेदों के सिद्धान्त और जीवन-दर्शन का व्यापक प्रचार ही इसका मुख्य उद्देश्य है, पर कतिपय विद्वानों के मत में यह अवैदिक धर्म है। "वैष्णव धर्म को अवैदिक मानते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि जिस भृगु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था, उसी ने विष्णु के वक्षःस्थल पर भी पदाघात किया। जान पड़ता है, भृगुगण खूब निष्ठावान् वैदिक था। वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक भृगु के पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ।"[१] मेरी दृष्टि में इसकी दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, जिनके आधार पर वैष्णव धर्म के अवैदिक होने का अनुमान किया गया होगा। पहली सम्भावना विष्णु के नीले रंग की है, जिसके द्वारा आरम्भ में उन्हें अनार्यों के देवता होने के कारण अवैदिक माना गया होगा और वैदिक ऋषि अपने देवताओं की कोटि में मिलाने के लिए तैयार न होंगे। दूसरी सम्भावना यह है कि उस समय संस्कृति और आदर्शों को लेकर आर्यों और अनार्यों में परस्पर प्रबल विरोध की भावना होगी और आर्यगण अपने-आपको अनार्यों से अधिक निष्ठावान् समझता होगा। वैष्णव धर्म वैदिक है एवं वैदिक कर्मकाण्ड की उपयोगिता मानते हुए भी इसमें हिंसा-प्रधान यज्ञों के प्रति घोर विरोध-भावना है।

महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व, अध्याय ३३६) में वैष्णव धर्म के अनुयायी राजा उपरिचर का आख्यान इस प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजा के द्वारा किये गये वैदिक यज्ञ में यवों के द्वारा आहुति प्रदान की गई। अश्वमेध यज्ञ में पशुहिंसा का ही विधान है, पर धर्मप्रिय राजा ने इस यज्ञ में भी पशुघात नहीं किया; क्योंकि वह स्वभावतः 'अहिंस्र' एवं शुचि था तथा उसके जीवन का आदर्श प्राणिमात्र की रक्षा कर उनका पोषण करना था।[२] अहिंसा के पक्षपाती होने के कारण ही सांख्य-योग का सम्बन्ध भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) से माना गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में संकेत है कि ऐश्वर्य और सर्वस्व की प्राप्ति के लिए 'पुरुष नारायण' ने पंचरात्र यज्ञ की विधि चलाई।[३] 'इसमें पुरुषसूक्त द्वारा नरमेध यज्ञ होता था और बलि के स्थान पर घृताहुति दी जाती थी।'[४] इससे यह अनुमान होता है कि वैष्णव यज्ञों में हिंसा करना वर्ज्य समझा जाने लगा था।[५] कदाचित् वैष्णव धर्म में अहिंसा-तत्त्व का प्रारम्भ यहीं से होता है। यज्ञों में सत्त्व-गुण का आधिक्य रहता था। "यज्ञ करनेवाले सत्त्वगुणभूयिष्ठ होने के कारण 'सात्वत' नाम से

---

१. संस्कृति के चार अध्याय : श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर', पृ० ६०।

२. "सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवंस्थितोऽभवत्॥"—शान्तिपर्व, ३३६·१०।

३. शतपथब्राह्मण, १३।६।१।

४. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार, 'कल्याण' (वर्ष १६, अंक ४)।

५ 'पुरुष मा सन्तिष्ठयौ यदि संस्थापयिष्यासि पुरुष एवं पुरुषमत्स्यति।'
— नन्ददुलारे वाजपेयी के 'महाकवि सूरदास' से उद्धृत, पृ० ८।

प्रसिद्ध हो गये। इसीलिए, वैष्णव धर्म का नाम 'सात्वतधर्म' पड़ गया।"[१] अहिंसा का उल्लेख कतिपय वैष्णव पुराणों में भी मिलता है। एक स्थान पर विष्णुपुराण में संकेत है कि नारायण के चार रूपों की माता 'अहिंसा' ही है।[२] इसी पुराण में अन्यत्र कहा गया है कि वैष्णव भक्त हिंसा से दूर ही रहता है। न तो वह जीव हत्या करता है और न किसी वस्तु का अपहरण, जो उसका नहीं है; क्योंकि हिंसक प्रवृत्ति के मनुष्य को कभी भगवत्प्रेम की प्राप्ति नहीं होती है।[३] अतः, 'अहिंसा' भागवतधर्म (वैष्णव धर्म) का प्रमुख सिद्धान्त है। वेदानुकूल होने पर भी यह अहिंसा-भाग का समर्थक है। ऐसा भासित होता है कि जैनधर्म एवं बौद्धधर्म ने अहिंसा-सिद्धान्त का ग्रहण भागवतों से ही किया है; क्योंकि प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन दोनों धर्मों से वैष्णव धर्म का पूर्वरूप भागवत धर्म प्राचीन काल में ही अपने अस्तित्व में रहकर अहिंसा का शंखनाद भारतीय जनमानस में कर रहा था। यद्यपि यह धर्म उदार, व्यापक और मानव-जीवन के उत्कर्ष का प्रेरणा-स्रोत है, पर आजतक इस धर्म का कोई श्रृंखलाबद्ध इतिहास नहीं लिखा जा सका। इसके प्रारम्भिक विकास और उद्भव की रूपरेखा अनेक स्फुट प्रसंगों तथा यत्र-तत्र बिखरे अवतरणों के आधार पर ही निर्मित होती आई है।

वैष्णव धर्म शाश्वत धर्म है। वह अखण्ड है, सार्वभौम है, अविनाशी है, अनादि और अनन्त है। भगवत्स्वरूप यह धर्म भगवान् से सदा अभिन्न है। प्रागैतिहासिक काल में कौन-सा धर्म विश्व में प्रचलित था, इसके निर्णय का कोई साधन नहीं है, पर कल्पना के सहारे कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म ही अवश्य किसी-न-किसी रूप में विद्यमान होगा।

आरम्भ में आदिम मानव अपने इहलौकिक जीवन में सुखप्राप्ति के हेतु सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि आदि प्रत्यक्ष पदार्थों का ही भजन-पूजन करते होंगे। "चतुर्दिक् तिमिराच्छन्न सृष्टि में जलार्णव के अतिरिक्त कोई ध्वनि श्रव्य-सम्भाव्य नहीं थी।" क्रमशः सूर्य, चन्द्र तथा प्राकृतिक रूपों में उन्हें किसी अपरोक्ष सत्ता की क्रान्ति अनुभूत हुई होगी, और उन प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना के अन्तराल के कर्मकाण्ड का स्रोत फूटा होगा।

डॉ० सम्पूर्णानन्द के अनुसार मानव इस पृथ्वी पर लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व आये।[४] कर्मकाण्ड की भावना के मूल में प्रकृति की दिव्य विभूति और अपरिमेय शक्ति रही होगी और लुब्ध नेत्रों से मानव उस विराट् विधान को देखते होंगे। शनैः-शनैः प्राकृतिक वस्तुओं अथवा प्राकृतिक घटनाओं में किसी-न-किसी देवता का स्वरूप प्रतिभासित होने लगा। फलतः, गुणों से परिचित होने पर उस देवना-विशेष की प्रसन्नता के लिए यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ। सामाजिक संगठन के पश्चात् अपने दैनिक जीवन को कल्याणमय बनाने के निमित्त मनुष्यों ने मांगलिक विनय और प्रार्थना का आश्रय ग्रहण किया। "उनका प्रधान उद्देश्य ऐहिक सुखों की प्राप्ति थी, इसका कारण उनका ध्यान अन्तः-

१. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार (वही)।
२. विष्णुपुराण, ३।७।२०।
३. वही, ३।७।२८।
४. आर्यों का आदि देश : डॉ० सम्पूर्णानन्द, पृ० २३२।

साधनाओं की अपेक्षा बाह्य विधानों की ओर ही अधिक रहा।" हृदय की शुद्धि और मनोविकारों की प्रांजलता की उपेक्षा कर उन्होंने शुद्ध मन्त्रोच्चारण और कर्मकाण्ड की विशिष्ट विधियों के पालन को विशेष महत्त्व दिया। समग्र देवताओं में एक की भावना ने कर्मकाण्डी वैदिक ऋषियों के मानस विष्णु के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि ऋषियों का ध्यान अन्य देवताओं से हटकर विष्णु पर केन्द्रित हो गया। "यज्ञ विष्णु था, और वह वामन था। बाद में यज्ञ से सम्बद्ध विष्णु-भावना में उत्तरोत्तर विकास होता गया और उसका सर्वत्र प्रचार हुआ।"[1] ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव धर्म के मूल उत्स में आदि उपासकों की रागात्मिका वृत्ति ही अधिक क्रियाशील थी; क्योंकि जीवन की चेतना के साथ-साथ उसकी आनन्द-संवेदना लगी हुई है। वैदिक विष्णु के आनन्दमय स्वरूप ने आदि उपासकों को विस्मय-विमुग्ध कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि समस्त रूप, रस, गन्ध में निरवच्छिन्न सर्वाश्रय परमात्मा के आनन्द-स्वरूप के अनुस्मरण में विष्णु-भावना ही समुल्लसित होती है।

तद्विष्णोः परम पद सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।[2]

इस सत्य के आश्रय में जो वैदिक आराधना की प्रवृत्ति है, वही वैष्णव धर्म है। प्रागैतिहासिक युग में—**इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे।**[3] इस मन्त्र में त्रिविक्रम विष्णु की सर्वाधिक महिमा में वैष्णव-भावना का रहस्य अपेक्षित है। ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में भी विष्णु की महिमा का वर्णन मिलता है। वैष्णव धर्म में प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रादुर्भाव चाहे जब हुआ हो, पर वैदिक विष्णु-भावना ने बीज रूप में उसके विकास की पृष्ठभूमि अपने आरम्भिक काल में ही निर्मित कर दी थी, जिसका भरपूर विकास और प्रचार हिन्दी-साहित्य के भक्ति-आप्लावित मध्यकाल में हुआ। ऋग्वेद में विष्णु-महिमा का कथन एक स्थान पर इस प्रकार है :

ॐ तमुस्तोतारः पूर्व्यं यथाविदस्तस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।[4]

निश्चय रूप से इस मन्त्र में वैष्णव-साधना का मूल स्रोत प्राप्त होता है। "विष्णु, तुम्हारी अनन्त महिमा से हम कितने परिचित हैं और कह भी क्या सकते हैं। तुम्हारे महिमामय स्वरूप की आराधना से ही मुझे सुमति प्राप्त होगी।" आरम्भ में यज्ञपरक विष्णु की अर्चा में ही आदि उपासकों ने अपने कल्याण को केन्द्रित किया, अतः यज्ञ की प्रधानता रही।

कर्मकाण्ड की यही प्रथा साधारण यज्ञ से पुरुषमेध तक क्रमिक विकास की ओर बढ़ती रही। "भूतप्रेतादि के परिहार के लिए यजमान की सिद्धि-कामनार्थ जो यज्ञ होते थे, वे विवाह, जन्म-मरण आदि धार्मिक संस्कारों में भी प्रमुखता प्राप्त करते गये।[5] कोई भी भावना स्थिर नहीं होती - जीवन और सृष्टि दोनों ही गतिशील हैं। कालान्तर में यज्ञ के

---

१. 'यज्ञमेवबिष्णुः पुरस्कृत्येयुः।···वामनोह विष्णुरास।
तेनेमां सर्वा पृथिवीं समविदन्त।'— शतपथब्राह्मण, १।२।३। ३-७।

२. ऋग्वेद, १। २२। २०।

३. वही, १। २२। १७।

४. ऋग्वेद, १।१५६।३।

५. भारतीय संस्कृति और अहिंसा : धर्मानन्द कोसाम्बी, पृ० २६।

परिणाम और विधान दोनों में परिवर्त्तन हुआ और कृष्ण-युग में यज्ञ की दक्षिणा, तपश्चर्या, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्य का निर्धारण वैष्णव धर्म में एक महान् क्रान्ति है। वैदिक मन्त्रों की अवतारणा कब हुई, इसका ठीक-ठीक कालनिर्णय तो कठिन है, पर कुछ विद्वान् ज्यौतिषशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर 'विष्णु'-सम्बन्धी मन्त्रों को तीन लाख वर्षों से भी पूर्व की रचना मानते हैं; क्योंकि सूर्य का दूसरा नाम 'विष्णु' माना गया है। भारतीय धार्मिक जीवन में य ाों का प्रभाव दीर्घ काल तक रहा और इसके मूलतत्त्व में श्रद्धा सन्निहित थी। 'विना श्रद्धा के यज्ञ का कोई अर्थ नहीं। श्रद्धा ही यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी है और श्रद्धा एवं यज्ञ में कोई अन्तर नहीं है।। श्रद्धाहीन यजमान के सभी यज्ञानुष्ठान व्यर्थ और सारहीन माने गये। विकासोन्मुखी सृष्टि में विकसित 'श्रद्धा' से श्रद्धामूलक भक्ति की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में श्रद्धा को एक देवी का रूप दिया गया है और उसकी महिमा में पाँच ऋचाएँ कही गई हैं। यहाँ श्रद्धा का अर्थ 'सत्य में विश्वास' वा सम्मान है : उव्वटाचार्य को भी यही अर्थ मान्य है। आगे चलकर 'प्रिय' एवं 'यजमान' शब्दों के साथ उसका प्रयोग हुआ है।[1] अतः, श्रद्धा के मूल में भक्ति के अतिरिक्त विश्वास भी है, जो आराध्य के प्रति आनन्द का द्योतक है। श्रद्धा सत्य भी है; क्योंकि इसके महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पवित्र और पूज्य बुद्धि भी संचरित होती रहती है। "जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है, उनका होना संसार को वांछित है। श्रद्धा का मूल तत्त्व है, दूसरे के महत्त्व का स्वीकरण और उसके पश्चात् दूसरा सोपान विश्वास है।[2] वैदिक आर्य अपने देवताओं को शक्तिशाली, अतीव पराक्रमी आदि के साथ दयावान् और कल्याणमय मानते रहे, इसलिए उनके प्रति उनमें श्रद्धा का पर्याप्त भाव था, जिसमें 'रागतत्त्व' का अभाव न था। स्पष्ट है कि वैदिक युग में श्रद्धा और प्रेम का अद्भुत सामंजस्य हुआ, जिसका परिणाम भक्ति के रूप में श्रद्धा का विकास है। यही श्रद्धा-भावना बहुदेववाद के विकास में सहायक हुई, जिसमें अनेकानेक देवताओं के म हत्त्व को स्वीकार किया गया। श्रद्धा-समन्वित प्रेम की पूर्णता जब भक्ति के आदि रूप में विलीन होकर अपने अलौकिक गुणों के कारण उपासना के क्षेत्र में मान्यता ग्रहण कर चुकी, तब भक्ति की भावना स्वभावतः अनेक की अपेक्षा एक की ओर अग्रसर हुई। 'भक्तिभाव से अनुप्राणित मनोवृत्तिवाला व्यक्ति सहज जीवन की ओर अग्रसर होने पर साधारण विभिन्नताओं से हटकर आध्यात्मिक दृष्टि को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है एवं यत्र-तत्र बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य स्थापित करता हुआ, उनको एक रूप में निविष्ट करता है तथा उसी को अपने महान् आदर्श का केन्द्र बनाता है।"[3] अतः, अनेक में एक की कल्पना होते ही वैदिक युग में विभिन्न देशों में सर्वशक्तिमान् एक का रूप दृष्टिगत होने लगा। वैदिक ऋषियों ने अब इस प्रकार कहना आरम्भ किया—"हे अग्निदेव, तुम ही वरुण हो, तुम ही मित्र हो तथा तुम ही इन्द्र भी हो

---

१. 'प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः प्रियं भोजेषु यज्वास्विदं म उदितं कृधि।'
—ऋग्वेद, १०।१५१।२।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'श्रद्धा' शीर्षक निबन्ध।—डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित के ग्रन्थ 'कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत' से उद्धृत।

३ वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०।

और तुम्हीं अर्यमा होकर स्वामिवत् कार्य भी किया करते हो।"[१] पूर्ण उल्लास के साथ उन्होंने आगे उद्‌घोषित किया—"विद्वान् पुरुष उसी (सत्) को इन्द्र, मित्र, वरुण अथवा अग्नि के नाम से सम्बोधित करते हैं, और वही विशाल पंखोंवाला दिव्य गरुड भी है। उसी एक (पदार्थ) का वे नानाविध वर्णन करते हैं। अतएव, वही एक सत् (सृष्टि को आविर्भाव प्रदान करने के कारण) अग्नि, (संसृति एवं परिवर्त्तन का मूल तत्त्व होने से) यम तथा (निखिल विश्व का आधारभूत होने से) 'मातरिश्वान' भी कहलाता है।"[२] बहुदेववाद के अन्तराल से प्रस्फुटित एकेश्वरवाद की इस अन्य विचारधारा के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की मौलिक एकता तो प्रतिपादित हो ही गई, वह सत्ता भी क्रमशः परमात्मतत्त्व हो गई।

कालान्तर में जब अनेकत्व में एकत्व की भावना की कल्पना प्रबल हो गई, तब वैदिक यज्ञों की प्रथा में ह्रास के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। यहीं से वैष्णव धर्म के नये रूप का निर्माण आरम्भ होता है। यज्ञों के ह्रासोन्मुख स्वरूप के अनेक कारणों में लोगों का सम्पत्ति के प्रति निःस्पृह तथा न्याय-भाव और धार्मिक चेतना-समन्वित ब्राह्मणों का अभाव माना जाता है।[३] प्रो० रजवाड़े इसे 'ब्राह्मणधर्म के प्रति विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया मानते हैं।'[४] कालचक्र निरन्तर गतिशील है। जीवन-पद्धति समाज का विशिष्ट अंग है, भावोर्मि की उत्प्रेरक है। इसका निर्माण और विनाश, उन्नति और पतन समाज के प्रणेता मानवों की मेधाशक्ति पर निर्भर करता है। विकासोन्मुख मानव रूढियों के मूलोच्छेदन से नवीन जीवन-दर्शन की सृष्टि करता है। कुछ ऐसी ही सम्भावनाएँ यज्ञ-समन्वित ब्राह्मण-धर्म में भी निहित हैं। मानव-इतिहास साक्षी है कि कालान्तर में निश्चित रूप से कर्मकाण्ड की अवनति हुई। चाहे इसके मूल में अतृप्त आकांक्षाओं से पूर्ण ब्राह्मणधर्म का पतन हो अथवा धर्म के प्रति लोगों की घोर उदासीनता की प्रधानता। मेरी समझ से इसकी दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं : (क) ब्राह्मणधर्म में यज्ञानुष्ठान आदि के द्वारा लौकिक आकर्षणों की प्राप्ति के लिए याज्ञिक ब्राह्मणों के लोभ में अतिशय वृद्धि, जिससे इस धर्म की जड़ तक खोखली होकर हिल गई, (ख) मानव के उर्वर मस्तिष्क में नई चिन्तन-शक्ति का उद्‌बोधन प्रारम्भ हो गया हो और धार्मिक जीवन में प्राचीन रूढियों के प्रति आसक्ति न हो। अन्तिम कारण ही मौलिक प्रतीत होता है; क्योंकि सहस्रों वर्षों तक यज्ञादि के बाद भी जब व्यक्ति अपने लक्ष्य की उपलब्धि में सफल न हो सका तथा उस विश्वात्मा से साक्षात्कार द्वारा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका, तब स्वाभाविक रूप से उसके मन-मस्तिष्क

---

१. ऋग्वेद, ५।३।१ और २।

२. 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥'—ऋग्वेद, १।१६४।४३।

३. भारतीय संस्कृति और अहिंसा : धर्मानन्द कोसाम्बी, पृ० ३०।

४. प्रो० बैजनाथ काशीनाथ रजवाड़े : 'बिबिध ज्ञान-बिस्तार' (मासिक पत्र); डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित के ग्रन्थ 'कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत' से उद्धृत, पृ० ४।

में द्वन्द्व का सूत्रपात हुआ और तभी से उसने जिज्ञासु बनकर उस साध्य-साधन-तत्त्व पर विचार-विमर्श आरम्भ कर दिया होगा।

ऐसा भासित होता है कि विचारों के आदान-प्रदान और धर्म-सम्बन्धी अनुसन्धान के उद्देश्य से वैदिक आर्यों ने अवश्य ही अनेक परिषदों का निर्माण किया होगा अथवा तर्क-वितर्क द्वारा अन्तिम निर्णय के लिए एकत्र होकर सभाएँ की होंगी। "तभी यह सम्भव हो सका होगा कि वे वैदिक धर्म विभिन्न मूल तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन किया जाय और यहीं से तत्त्व-चिन्तन-क्रिया का प्रारम्भ होता है। यह निस्सन्देह एक तथ्य है कि आर्यों की विभिन्न गोष्ठियों के विचार-विनिमय और दार्शनिक विवेचन के परिणामस्वरूप ही वेदों के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्-भागों की रचना हुई तथा वैदिक धर्म के एक सुव्यवस्थित साहित्य का सर्जन आरम्भ हुआ। इन्हीं रचनाओं के आधार पर वैदिक कृत्यों की विधि-परम्परा निश्चित हुई, मूल दार्शनिक तत्त्वों का अनुसन्धान हुआ तथा गूढ रहस्यों का उद्घाटन और स्पष्टीकरण भी हुआ।

धार्मिक चेतना के कारण, चिन्तन-प्रधान युग होने से परमात्मतत्त्व के समान ही जीवात्मा, अव्यक्त प्रकृति की भावना, कर्म एवं जन्मान्तर की कल्पना का भी उदय हुआ। लौकिक कर्म-बन्धन (जन्म-मरण) से मुक्त होने की सात्त्विक आकांक्षा भी जगी। सम्पूर्ण विश्व को मोहजनक मायाजाल उद्घोषित किया गया और जीवात्मा को परमात्मचिन्तन, आराधना-अर्चना का अभ्यास करते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति की ओर उन्मुख किया गया। यही दीर्घकालव्यापिनी क्रिया तप वा तपस्या के रूप में परिणत हो गई। इसी तपस्या के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के सान्निध्य का उत्तरोत्तर विकास होता गया। अन्य शब्दों में इसे 'वैदिक उपासना' या 'ध्यानयोग' कहा गया।[1] भक्ति-भावना की दृष्टि से वैदिक उपासना ही वास्तव में श्रद्धाभक्ति का दूसरा स्वरूप बनकर धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित हुई।

इतना तो निश्चित और तर्क-सम्मत है कि वैदिक काल में, जब संहिता-भाग का निर्माण हुआ, तब वैष्णव धर्म के वर्त्तमान रूप का कोई अस्तित्व नहीं था। वैदिक संहिताओं में संकेतित वर्णनों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस युग में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी, वैष्णव धर्म की मूलभित्ति भक्ति-मार्ग का कोई अस्तित्व नहीं था। अतः, चिन्तन-युग तक इस वैष्णव धर्म के किसी भी अंग की रचना नहीं हो पाई थी, विष्णु-सम्बन्धी मन्त्रों में इसकी कल्पना भले ही उद्भूत हो रही हो। "उस युग में भक्ति' शब्द का प्रयोग श्रद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेमपात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता था।" आगे चलकर भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव तब हुआ, जब आर्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों में उदात्तता और परिपक्वता आ गई। तभी श्रद्धा या उपासना से धीरे-धीरे विकसित होती हुई यह उस व्यापक भाव में परिणत हुई, जिसके द्वारा स्वयं उपासक उपास्यदेव के ऐश्वर्य या मूलतत्त्व में भाग लेता है।[2] अतः, उपर्युक्त विवेचन के आधार पर

१. गीता : अध्याय ६, श्लोक १३, १४, १५, २०, २१। डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित के ग्रन्थ 'कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत' से उद्धृत।

२. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२।

कहा जा सकता है कि वैदिक युग में रोपित श्रद्धात्मक बीज से अंकुरित भक्ति के विभिन्न अंग-उपांग से वैष्णव धर्म प्रस्फुटित हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि वैष्णव धर्म निस्सन्देह अति प्राचीन मानव-धर्म है। सूर्योपासना से वैष्णव धर्म का आविर्भाव विद्वानों की दृष्टि में तर्कपूर्ण और न्यायसंगत ही है, चाहे इसका 'वैष्णव धर्म' नामकरण जब हुआ हो।

डॉ० भाण्डारकर तीन तत्त्वों के योग से वैष्णव धर्म को उत्पन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में विष्णु, नारायणीय धर्म और वासुदेव-मत ही ऐसे तीन तत्त्व हैं, जिन्होंने एक होकर वैष्णव धर्म को उत्पन्न किया।[१] श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपनी 'बदरीनाथ' नामक पुस्तक में विवरण दिया है कि "प्राचीन काल में नर नामक अपने मित्र के साथ नारायण ऋषि बदरीनाथ में रहते थे और नारद उन लोगों की सेवा करते थे। बदरीनाथ को नारदीय क्षेत्र भी कहते हैं। नारद ने यहीं पाँचरात्र-मार्ग का प्रवर्त्तन किया, जिसके आराध्य नारायण ऋषि थे। यही मार्ग विकसित होकर वैष्णव धर्म कहलाया।"[२] 'वैष्णव' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत में मिलता है,[३] जिसमें कहा गया है कि— "महाभारत के मनन-चिन्तन और अध्ययन से वही अपरिमित पुण्य की प्राप्ति होती है, जिस प्रकार अष्टादश पुराणों के पारायण से होता है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत से पूर्व ही पुराणकाल के प्रारम्भ में 'वैष्णव' शब्द का पूर्ण प्रचार हो गया था।

वैष्णव धर्म और वैष्णव भक्त का उल्लेख लिंगपुराण में भी मिलता है। लिंग-पुराण के अनुसार—**विष्णुदेवो हि यस्यैव देवता वैष्णवः,**[४] : अर्थात् विष्णु के आराधक वैष्णव हैं।

अनादि वैष्णव धर्म काल-कलनधर्मी, युगधर्मप्रवर्त्तक, सार्वजनिक, मानवधर्म है। श्रीविष्णु के चरणाश्रित भक्तों के लिए यह धर्म नित्य है। वेदप्रतिपाद्य यह धर्म पाशुपत आदि धर्मों के समान शून्यवाद पर आश्रित मतवाद से पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र है।

यह धर्म अति प्राचीन है। अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि यह धर्म सृष्टि के आरम्भ से ही प्रचलित है और कम-से-कम तीन लाख वर्ष प्राचीन तो है ही; क्योंकि मानव का आदि धर्म होने से 'सनातन' कहा जाता है। रागतत्त्व-समन्वित यह धर्म प्रेम और भक्ति का धर्म है। जीवन के परमोत्कर्षपूर्ण गुणों के संवाहक होने से यह धर्म सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

हिन्दी विभाग
बी० एन्० कॉलेज, पटना

---

१. संस्कृति के चार अध्याय :'दिनकर', पृ० ६१।

२. वही, पृ० ६१।

३. महाभारत, २८।६।६७।

४. विष्णुपुराण, धर्मांक ('कल्याण') से उद्धृत, पृ० ३०।

हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों में अर्थ-परिवर्त्तन

● सुश्री गिरीशकुमारी

हिन्दी-भाषा में संस्कृत के शब्द प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं, साथ ही हिन्दी-भाषा में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी में इन शब्दों का प्रयोग दोनों रूपों में होता है : तत्सम तथा तद्भव। अधिकांश शब्द तत्सम हैं, यद्यपि अनेक शब्द प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से भी आये। भाषा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर चलती है। फलतः, जो शब्द बोलने में सरल थे, उनमें वर्ण-परिवर्त्तन नहीं हुआ और वे प्राकृत तथा अपभ्रंश के माध्यम से भी आने पर वैसे ही बने रहे। तद्भव शब्दों का विकास हिन्दी में या तो संस्कृत से अथवा प्राकृत के माध्यम से हुआ। इस प्रकार के शब्दों की संख्या हिन्दी में अनन्त है। हिन्दी-भाषा की शब्दावली का अधिकांश संस्कृत-भाषा पर आधृत है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार, 'आज की किसी भी आधुनिक आर्यभाषा में संस्कृत-शब्दों का परिमाण लगभग पचास प्रतिशत कहा जा सकता है।' दक्षिण भारत के तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि द्रविड-भाषाओं एवं ब्रह्मदेश, स्याम, इण्डोनेशिया, मलयद्वीप, सुमात्रा आदि की भाषाओं में संस्कृत का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में प्रयुक्त विभिन्न भावों तथा परिस्थितियों एवं विचारधारा में परिवर्त्तन के कारण विभिन्न संस्कृत-शब्दों में अर्थ-परिवर्त्तन हुआ। यह स्वाभाविक भी था। प्रत्येक भाषा के विकास में जहाँ ध्वनि-परिवर्त्तन होता है, वहाँ अर्थ-परिवर्त्तन के अनेक कारण; यथा धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक होते हैं, जिनको रोका नहीं जा सकता है।

अर्थ-विकास की दृष्टि से हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों को निम्नांकित श्रेणियों में रखा जा सकता है :

१. ऐसे शब्द, जिनका आधुनिक अर्थ संस्कृत में पाये जानेवाले अर्थों से सर्वथा भिन्न हो गया है। यथा : प्रबन्ध, प्रस्ताव, परिवार आदि : हिन्दी में 'प्रबन्ध' शब्द अधिकतर व्यवस्था, इन्तजाम आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है, जबकि संस्कृत में इसके अर्थ हैं अविच्छिन्नता, साहित्यिक रचना आदि। इसी प्रकार, 'प्रस्ताव' शब्द उपस्थित, मन्तव्य अर्थ में प्रचलित है, जबकि संस्कृत में इसका अर्थ प्रसंग, अवसर आदि है। 'परिवार' शब्द हिन्दी में कुटुम्ब के अर्थ में प्रचलित है, जबकि संस्कृत में इसका अर्थ परिचारक-वर्ग, अनुयायी-वर्ग आदि है।

२. वे शब्द, जिनका अर्थ यद्यपि संस्कृत में ग्रहण किया गया है, तथापि एकाध अन्य अर्थ भी विकसित हो गया है; यथा घण्टा, धूप आदि। हिन्दी में घण्टा शब्द (जिसको

बजाकर किसी बात की सूचना दी जाती है) साठ मिनट के समय के रूप में प्रचलित है, जबकि संस्कृत में इसका अर्थ घड़ियाल है। इसी प्रकार हिन्दी में 'धूप' सूर्य के ताप और प्रकाश के अर्थ में प्रचलित है, जबकि संस्कृत में इसका अर्थ मिश्रित गन्ध है।

३. वे शब्द, जिनका अर्थ हिन्दी में प्रचलित अर्थ से भिन्न तो नहीं है, किन्तु जिनका संस्कृत में मूल अर्थ भिन्न हो गया है; जैसे वंश, गुण, दक्षिणा आदि। हिन्दी में 'गुण' शब्द का मौलिक अर्थ डोरी, लड़ी आदि है। इसी के आधार पर 'विशेषता' आदि अर्थों का भी विकास हुआ। इसी प्रकार, हिन्दी में 'दक्षिणा' शब्द का अर्थ है यज्ञ आदि शुभ कर्म के अवसर पर ब्राह्मण अथवा पुरोहित को दिया जानेवाला धन; किन्तु संस्कृत में इसका मूल अर्थ है 'दुधारू गाय'।

हिन्दी में संस्कृत-शब्दों में अर्थ-परिवर्त्तन तीन आधारों पर हुआ है :

१. भाव-सादृश्य के आधार पर।
२. भाव-साहचर्य के आधार पर।
३. विभिन्न प्रवृत्तियों पर आधृत शब्दार्थ।

जब कोई शब्द अपने मौलिक अर्थ से मिलते-जुलते किसी अन्य भाव को भी लक्षित करने लगता है, तब इस प्रकार के परिवर्त्तन को भावसादृश्य पर आधृत अर्थ-परिवर्त्तन कहते हैं। अर्थ-परिवर्त्तन में इस श्रेणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भाव-सादृश्य अर्थ-परिवर्त्तन में कई प्रकार का हो सकता है :

१. भौतिक पदार्थों का सादृश्य।
२. शारीरिक अवस्था का सादृश्य।
३. भौतिक पदार्थों के गुणों और विशेषताओं का सादृश्य।
४. विविध आलंकारिक प्रयोग।
५. नवीन भावों के लिए गृहीत संस्कृत-शब्द।

नीचे कुछ भाव-सादृश्य पर आधृत संस्कृत-शब्दों के हिन्दी में अर्थ-परिवर्त्तन के उदाहरण दिये जा रहे हैं :

पद : हिन्दी में 'पद' (पुं०) शब्द अधिकतर योग्यता या कार्य के अनुसार नियत स्थान अथवा पद; यथा अध्यक्ष-पद, सचिव-पद, पदाधिकारी-पद अथवा किसी पद्य या छन्द के अर्थों में प्रयुक्त होता है। पद के ये अर्थ लगभग संस्कृत में भी पाये जाते हैं। किन्तु, संस्कृत में पद (नपुं०) **तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा** आदि के अनुसार 'पद' शब्द स्थिति, स्थान, अवसर, विषय, आश्रय आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

शीर्षक : हिन्दी में 'शीर्षक' शब्द का अर्थ है वह शब्द या पद, जो विषय का परिचय कराने के लिए लेख या ग्रन्थ आदि के ऊपर रहता है। संस्कृत में शीर्षक (नपुं०) का यह अर्थ नहीं पाया जाता है। संस्कृत में शीर्षक शब्द का मौलिक अर्थ 'सिर' है। सर मोनियर विलियम की 'संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी' में 'शीर्षक' शब्द 'सिर' अर्थ के अतिरिक्त उससे विकसित खोपड़ी, टोपी, पगड़ी आदि अर्थ में प्रयुक्त है। 'सर' मनुष्य के शरीर का

सबसे ऊपरी एवं महत्त्वपूर्ण भाग होता है । अतः, किसी ग्रन्थ या लेख में परिचय कराने के लिए सबसे ऊपर जो शब्द या पद होता है, भाव-सादृश्य के आधार पर उसको भी 'सिर' के वाचक 'शीर्षक' शब्द द्वारा लक्षित किया जाने लगा । यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत में 'सिर' के वाचक 'शीर्ष' शब्द के भी भाव-सादृश्य के आधार पर किसी वस्तु का ऊपरी भाग पर्वत की चोटी, वृक्ष की फुनगी, अग्रभाग आदि अर्थों का विकास पाया जाता है ।

मानव-जीवन का वनस्पति-जगत् से अभिन्न सम्बन्ध है । उसके जीवन पर प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव सर्वांगीण जीवन पर पड़ा है । अतः, इनके सादृश्य के आधार पर भी अर्थ-विकास हुआ है । अर्थ-विकास की यह प्रवृत्ति सभी भाषाओं में पाई जाती है । यथा :

फल : हिन्दी में 'फल' (पुं०) शब्द किसी वृक्ष का फल, परिणाम आदि अर्थों में प्रचलित है । 'फल' शब्द के ये अर्थ संस्कृत में पाये जाते हैं । किन्तु, यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत में फल (नपुं०) का मौलिक अर्थ वृक्ष का फल है ।

लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी वृक्ष के 'फल' शब्द का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है । जैसे : **'उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलम्**, 'वृक्ष' के फल के भाव-सादृश्य के आधार पर ही संस्कृत में 'फल' शब्द के फसल, परिणाम, पुरस्कार, कर्म, उद्देश्य, लाभ, सन्तान आदि अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है । हिन्दी में भी 'फल' शब्द संस्कृत के सादृश्य फल' परिणाम आदि अर्थों में प्रचलित है ।

भाव-साहचर्य पर आधृत अर्थ-परिवर्त्तन : मनुष्य के मस्तिष्क के शब्दों के भाव-स्वतन्त्र-रूप में विद्यमान नहीं रहते, वे अन्य किसी भावों से भी सम्बद्ध रहते हैं । बहुधा एक शब्द के द्वारा व्यक्त भाव के अन्तर्गत कई भाव मिले रहते हैं और अवसर पाकर इनमें से एक प्रमुख बन जाता है । यह अर्थ-परिवर्त्तन विभिन्न दिशाओं में होता है । यथा :

१. अंगवाची से सम्पूर्णवाची ।
२. सम्पूर्णवाची से अंगवाची ।
३. साधनवाची से साध्यवाची ।
४. विविध भाव-साहचर्य पर आधृत अर्थ-परिवर्त्तन ।

परिवार : हिन्दी में 'परिवार' (पुं०) कुटुम्ब के अर्थ में प्रचलित है, परन्तु संस्कृत में 'परिवार' का यह अर्थ नहीं पाया जाता है । संस्कृत में 'परिवार' शब्द का प्रयोग 'परिचारक-वर्ग' अथवा अनुचर-वर्ग' अर्थ में ही पाया जाता है । यथा :

अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः ।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् । (शिशुपालवध, २।९०)

प्राचीनकाल में शासन-सूत्र के संचालन में राजा की सहायता करनेवाले अधिकारी राजा का परिवार कहलाते थे; क्योंकि राजा सदैव इन्हीं से घिरा रहता था । 'कामन्दकीयनीतिसार' में 'परिवार' शब्द का यही अर्थ पाया जाता है :

प्रख्यातवशमक्रूरलोकसङ्ग्राहिणं शुचिम् ।
कुर्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिवारमहीपतिः ॥ (कामन्दकीयनीतिसार, ४।७०)

हिन्दी में 'परिवार' शब्द का कुटुम्ब अर्थ इसके परिचारक-वर्ग अथवा अनुचर-वर्ग से ही विकसित हुआ है। 'परिवार' शब्द का कुटुम्ब अर्थ मराठी, गुजराती, बँगला, उड़िया, नेपाली आदि भाषाओं में भी पाया जाता है।

समाज : हिन्दी में 'समाज' (पुं०) शब्द का अर्थ है एक जगह रहनेवाले लोगों का समूह; यथा भारतीय समाज, हिन्दू-समाज, मानव-समाज आदि। संस्कृत में समाज शब्द का प्रयोग अधिकतर सभा अर्थ में पाया जाता है। यथा :

विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्। (नीतिशतक, ७)

संस्कृत में गोष्ठी, बाहुल्य, समृद्धि, मिलन आदि अर्थों में भी समाज शब्द का प्रयोग पाया जाता है। पंजाबी, सिन्धी, मराठी, गुजराती, उड़िया, बँगला, असमिया और कन्नड़ भाषाओं में समाज शब्द का और तेलुगु में 'समाजम्' शब्द का यही अर्थ पाया जाता है।

शब्द-साहचर्य पर आधृत अर्थ-परिवर्त्तन : किसी शब्द-समुदाय में दो शब्द प्रायः एक साथ ही एक ही प्रसंग में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे प्रयोग से उनका एक ऐसा संक्षिप्त रूप रह जाता है, जिसमें एक ही शब्द दोनों के भावों को व्यक्त करने लगता है। उनके एक साथ अत्यधिक प्रयोग से एक शब्द का भाव दूसरे से इतना संक्रान्त हो जाता है कि दोनों शब्दों का उल्लेख करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यथा :

अधर : हिन्दी में 'अधर' शब्द होंठ, विशेषतया नीचे के होंठ के अर्थ में प्रचलित है। 'अधर' शब्द के ये अर्थ संस्कृत में भी पाये जाते हैं। आगे चलकर 'अधर' (पुं०) शब्द नीचे के होंठ के लिए प्रयुक्त होते रहने से कालान्तर में इसके अर्थ में विस्तार हुआ और यह सामान्य रूप से 'होंठ' को लक्षित करने लगा, चाहे वह ऊपर का हो या नीचे का।

मन्दिर : 'मन्दिर' शब्द देवालय अर्थ में प्रचलित है। 'मन्दिर' शब्द का यही अर्थ संस्कृत में भी पाया जाता है; किन्तु उल्लेखनीय यह है कि संस्कृत में 'मन्दिर' शब्द का मौलिक अर्थ है रहने का घर, निवास-स्थान, भवन। यथा :

निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात्। (रघुवंश, १२।८३)

मन्दिर शब्द के 'घर' अथवा भवन से ही देवालय अर्थ का विकास हुआ है। देवालय किसी देवता के स्थान अथवा घर को कहते हैं। संस्कृत-साहित्य में गृह, घर अर्थ में 'मन्दिर' शब्द का प्रयोग देवता के वाचक शब्द के साथ पाया जाता है।

'मन्दिर' शब्द पंजाबी, मराठी, गुजराती, बँगला, असमिया अदि भाषाओं में भी 'देवालय' अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। कश्मीरी में 'मन्दिर' और 'सिन्धी' में 'मन्दरू' शब्द मिलते हैं, जो कि मन्दिर के ही तद्भव रूप हैं।

इस प्रकार, उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों में अर्थ-परिवर्त्तन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। अर्थ-परिवर्तन में कहीं पर अर्थ-विस्तार हुआ है, कहीं पर अर्थसंकोच।●

बी ३, चौपटिया कॉलोनी
लखनऊ

गुमानी कवि का खड़ी बोली हिन्दी-काव्य

प्रो० कैलासचन्द्र लोहनी

खड़ी बोली हिन्दी के विकास का इतिहास विवादास्पद है। इस सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत हैं। एक मत के अनुसार मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई। "अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शती में बहुत-से मुसलमान कवियों ने काव्य-रचना करके खड़ी बोली उर्दू को परिमार्जित रूप दिया।"[१] ग्रियर्सन ने 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' में खड़ी बोली के विकास पर प्रकाश डालते हुए कहा है : "साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी के प्राचीनतम नमूने उर्दू अथवा रेख्ता में उपलब्ध हैं। ये नमूने काव्य-ग्रन्थों में ही मिलते हैं। रेख्ता-शैली का प्रारम्भ दक्षिण (डेक्कन) में सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। इसके सौ वर्ष बाद वली औरंगाबादी के द्वारा इसे निश्चित परिनिष्ठित रूप प्राप्त हुआ, इसीलिए वली को रेख्ता का जनक कहा जाता है। वली का उदाहरण बड़ी शीघ्रता से दिल्ली में अपनाया गया। यहाँ कवियों की एक परम्परा चल पड़ी, जिसके विशिष्ट प्रतिभाशाली सदस्यों में प्रसिद्ध व्यंग्य-काव्य के रचयिता सौदा (मृत्यु : सन् १७८० ई०) तथा मीर तकी (मृत्यु : सन् १८१० ई०) मुख्य थे।"[२] दूसरे मत के प्रतिपादक हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जो उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं करते। "कुछ लोगों का यह कहना-समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है, जिससे आधुनिक हिन्दी-गद्य की भाषा अरबी-फारसी शब्दों को मिलाकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है।"[३] आचार्य शुक्ल ने खड़ी बोली के विषय में अपना स्पष्ट मत अंकित करते हुए कहा है। "उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्त्तमान थी और अब भी बनी हुई है।"[४]

आचार्य शुक्ल ने पद्य में प्रयुक्त खड़ी बोली के प्रारम्भिक रूप आदिकाल के काव्य में भी खोजे हैं।[५] भक्तिकाल में कबीर और नामदेव की सधुक्कड़ी भाषा के भीतर[६] खड़ी बोली के रूप मिलते हैं और रीतिकाल में भूषण आदि[७] में बराबर खड़ी बोली के प्रयोग

---

१. हिन्दी भाषा का इतिहास : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, भूमिका, पृ० ८१।
२ भारत का भाषा-सर्वेक्षण ग्रियर्सन ; अनुवादक .डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० ३०९।
३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३८८।
४. वही, पृ० ३८८।
५. वही, पृ० ५७१।
६. वही।
७. हिन्दी-भाषा का इतिहास : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, भूमिका, पृ० ८१, तथा 'ना० प्र० पत्रिका' में 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख।

वर्त्तमान हैं। आधुनिक युग में नजीर अकबराबादी[१] (संवत् १७८७—१८७७) में हिन्दी खड़ी बोली के प्रारम्भिक रूप मिलते हैं। "इनके अतिरिक्त लखनऊ के शाह कुन्दन लाल और फुन्दन लाल 'ललितकिशोरी' और 'ललितमाधुरी' नाम से कृष्णभक्त हुए हैं, जिनका रचनाकाल संवत् १९१३ और १९३० के बीच समझना चाहिए। उन्होंने और कृष्णभक्तों के समान व्रजभाषा के अनेक पद तो बनाये ही हैं, खड़ी बोली में कई झूलना छन्द भी लिखे हैं।"[२] संवत् १९४३ में श्रीधर पाठक का 'एकान्तवासी योगी' प्रकाशित हुआ, जो खड़ी बोली हिन्दी की पद्य-रचना[3] थी।

संवत् १९४३ के पहले के कवियों द्वारा खड़ी बोली हिन्दी-काव्य-रचना अवश्य प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप श्रीधर पाठक द्वारा ही खड़ा किया गया था; जिन्होंने अरबी-फारसी अथवा व्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी के स्थान पर खड़ी बोली हिन्दी में काव्य-रचना की थी। "श्रीधर पाठक जैसे सिद्ध कवि की कविता में भविष्य की नई कविता 'भ्रूण' रूप में थी, उसी में खड़ी बोली की कविता के जन्म की आशा होने लगी थी।"[४] महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'हरिऔध' के काव्य से हिन्दी अपने आधुनिक रूप की ओर चरण बढ़ाने लगी।

श्रीधर पाठक, आचार्य द्विवेदी और 'हरिऔध' आदि महत्त्वपूर्ण नामों से पूर्व एक नाम ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी खड़ी बोली के इतिहास में उल्लेखनीय है, जिससे हिन्दी जगत् अभी तक अपरिचित है—वह है कूर्माचल-निवासी पं० लोकरत्न पन्त, जो 'गुमानी' उपनाम से काव्य-रचना किया करते थे।

'गुमानी' कवि कुमाऊँ के जन-जन के कवि हैं। इनका कुमाउँनी काव्य कुमाऊँ के कण्ठ-कण्ठ का काव्य है तथा कुमाउँनी में ये ही लिखित साहित्य के जनक हैं। 'गुमानी' केवल कुमाउँनी-काव्य के ही प्रणेता नहीं थे, अपितु संस्कृत, हिन्दी और नैपाली भाषा के भी काव्य-प्रणेता थे।

गुमानी कवि का मूलस्थान गंगोली में उपरड़ा ग्राम था, किन्तु इनके पिता पं० देवनिधि पन्त काशीपुर में रहते थे। संवत् १८४७ वि०, तदनुसार सन् १७९० ई० में काशीपुर में इनका जन्म हुआ था। इनकी माता का नाम देवमंजरी था। इस नाम से यह ज्ञात होता है कि देवमंजरी पं० देवनिधि पन्त की द्वितीय पत्नी थीं। कूर्माचलीय परम्परानुसार पति के नाम के साथ प्रथम पत्नी में सुन्दरी और द्वितीय पत्नी में मंजरी शब्द लगता है। इस प्रकार, देवमजरी में देव शब्द पति नाम का द्योतक है और मंजरी द्वितीय पत्नी का। ज्यौतिषशास्त्र के अनुसार गुमानी कवि का नाम लोकरत्न था, किन्तु इनके पिता प्रेम से इन्हें 'गुमानी' नाम से पुकारते थे और बाद में इसी नाम से

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५७१।

२. वही, पृ० ५७२।

३. वही।

४. हिन्दी-कविता में युगान्तर : प्रो० सुधीन्द्र, पृ० ६१।

प्रसिद्ध हुए। ये अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे, किन्तु पढ़ने में इनका विशेष मन नहीं लगता था। बाल्यावस्था में इन्होंने संस्कृत-साहित्य, आयुर्वेद और वेदान्त का अध्ययन किया था। लगभग २४ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हुआ था। विवाह के पश्चात् ही इन्होंने गृहस्थ-जीवन के स्थान पर देशाटन प्रारम्भ कर दिया। बारह वर्ष तक ये यत्र-तत्र विचरण करते रहे। इस अवधि में ये चार वर्ष प्रयाग और तीन वर्ष देव-प्रयाग में रहे। बारह वर्ष बाद ये पुनः काशीपुर आ गये तथा माता के आग्रह पर पुनः गृहस्थ-जीवन बिताने लगे। कहा जाता है कि जब ये तीर्थाटन के पश्चात् लौटे, तब इनमें काव्य-रचना की अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो गई थी। काव्य-निर्माण के विषय में ये मनमौजी थे। जब कभी मन में आ जाता, तब काव्य-रचना करके उसे कागज पर लिख लिया करते थे। अनुश्रुति के अनुसार यदि इनका सम्पूर्ण काव्य उपलब्ध हो जाय, तो उनके श्लोकों की संख्या एक लाख से अधिक होगी। गुमानी कवि को दो राजाओं—कुमाऊँ-नरेश गुमानसिंह देव और गढ़वाल-नरेश सुदर्शन शाह का राज्याश्रय प्राप्त था। गुमानी कवि अल्पायु में ही संवत् १९०३ वि०, तदनुसार सन् १८४६ ई० में दिवंगत हो गये थे।

गुमानी-विरचित संस्कृत-काव्य ये हैं—**शतोपदेश, ज्ञानभैषज्यमंजरी, दूर्जनदूषण, पंचपचाशिका, विज्ञप्तिसार, गांगप्रबन्ध, देवस्तोत्राणि, भक्तिविज्ञप्तिसार सद्रंजाष्टक, गज्जफाक्रीडा-पद्धति, अँगरेज 'राज्यवर्णनम्' रामाष्टपदी, जगन्नाथाष्टक, रघुपतिपंचाशिका राममहिमा तथा समस्यापूर्त्तिपरक काव्य।** समस्यापूर्त्तिपरक श्लोकों में प्रथम तीन चरण संस्कृत-भाषा निबद्ध हैं और चतुर्थ चरण हिन्दी, कुमाउँनी अथवा नैपाली-भाषा का है। कहा जाता है कि संस्कृत-भाषा में इनके अतिरिक्त कालिकाष्टक, कृष्णाष्टक, कल्पवृक्षबन्ध तथा कुछ नरेशों पर रचित प्रबन्ध-काव्य भी इन्होंने लिखे थे। गुमानी कवि-विरचित हिन्दी, कुमाउँनी तथा नैपाली-भाषा में रचा गया काव्य विविध विषयों से सम्बद्ध है। इन भाषाओं में कोई पूर्ण काव्य इनके द्वारा नहीं रचा गया। गुमानी-काव्य के विधिवत् संकलन का कार्य अभी शेष है। ''कुमाउँनी में कविताएँ स्फुट होने के कारण इधर-उधर बिखर गई हैं, जिनमें कुछ 'गुमानी-रचना-संग्रह', 'काव्य-संग्रह', 'गुमानी नीति' और 'काव्यमाला-संग्रह' पुस्तकों में उपलब्ध है।''[1] ग्रियर्सन द्वारा भी गुमानी कवि पर कार्य किया गया था, जो 'इण्डिन एण्टिक्वेरी' में प्रकाशित हुआ था।[2] 'द० द० शर्मा ने गुमानी पन्तजी की समस्त रचनाओं के संग्रह को 'गुमानी नीति' के नाम से इटावा जिले से छापा है।'[3] किन्तु गुमानी कवि का यह कार्य भी दुष्प्राप्य है।

गुमानी कवि का हिन्दी-काव्य मुझे अल्मोड़ा के श्रीदेवेन्द्र सनवाल से प्राप्त हुआ है। जिस पुस्तक से हिन्दी-काव्य प्राप्त हुआ, वह पं० देवीदत्त पाण्डे द्वारा 'गुमानी कवि-विरचित संस्कृत और भाषाकाव्य' नाम से सम्पादित है, जिसका मुद्रण संवत् १९५३ वि० में हुआ था। उपलब्ध कविताओं में कवि की भाषा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आगे के उदाहरणों में खड़ी बोली हिन्दी के विविध रूप दर्शनीय हैं :

---

१. कुमाऊँ का लोक-साहित्य : डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय, पृ० २७१।

२. वही, पृ० २७४।

३. प्रतिभा-दर्शन : श्रीहरशंकर जोशी, पृ० १२७।

विष्णु का देवाल उखाड़ा ऊपर बँगला बना खरा।
महाराज का महल ढबाया बेड़ीखाना तहाँ धरा।
मल्ले महल उड़ाई नदा बँगलों से भी तहाँ भरा।
अँगरेजों ने अल्मोड़े का नक्शा औरी और करा ॥१॥
कदी जसपुर पट्टी फिर कर कदी तो चिलकिया।
कदी घर में सोते भर नयन भोरे उठ चले।
सभी टट्टू लादें वनज रुजगारी सब बने।
अजब देखा काशीपुर शहर सारे जगत् में ॥२॥
जो वेदान्त पुराण पुस्तक धरे जो धर्म से न टरे।
जो लज्जा हल जोतने पर करे जो नौकरी से डरे।
जो थोड़ी नहि फारसी न अरबी न अँगरेजी पढ़े।
सो इसके अँगरेज के अमल में क्योंकर दिनों को भरे ॥३॥

अरबी-फ़ारसी-मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी के कुछ उदाहरण ये हैं :

रिश्वत खाय गवाह बिरानी वजह सबूती करते हैं।
गंगाजल हरिवंश हलफ की राह हाथ पर धरते हैं।
पैसे खातर धर्म गँवाया मौत पराई मरते हैं।
कहै गुमानी अब ये पापो कैसे पार उतरते हैं ॥४॥
जो है जाली बड़ा सवाली पापों से ना डरता है।
लिखे बनाये तमस्सुक झूठे गव्वाहों को धरता है।
सो रिश्वत से डिग्री पावे सच्चा रो रो मरता है।
कहै गुमानी जुलम फिरंगी अमला तेरा करता है ॥५॥

'तम्बाकू की प्रशंसा' शीर्षक कविता में अरबी-फारसी-मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी के साथ-साथ अन्तिम चरण में कुमाउँनी भाषा का पुट भी है :

खरा खैराबादी हरत सब बादी बदन की।
रला चूना ताजी तिस पर भला सुन्दर मला।
भला सा भी गासा अमल खासा खुभ करै।
तमाकू ना जाकू धिक् मिलत ताकूं कृपण कूं ॥६॥

कवि गुमानी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने समस्यापूर्तिपरक काव्य में हिन्दी की लोकोक्तियों को भी प्रमुख स्थान दिया था। ये लोकोक्तियाँ खड़ी बोली हिन्दी की लोकोक्तियाँ हैं। इसमें प्रथम तीन चरण संस्कृत में और चतुर्थ चरण लोकोक्ति का है :

दुर्जनवृत्तिः किल घोरा मानसवृत्तिरतीव कठोरा।
वाक्सुधया सदृशी रसपूरा मुख पर राम बगल पर छुरा ॥७॥
पूर्वजशुद्धिमिषादिह गङ्गामाहृतवान्स भगीरथः भूपः।
बन्धुरभूज्जगतः परमोसौ सज्जन है सबका उपकारी ॥८॥

यावद्ग्रामः शस्त्राधारी नायातीह त्वत्संहारी।
तावत्तस्मै देया नारी ज्यों भीगे त्यों कम्बल भारी ।।९।।

इसी शैली में लिखे गये एक अन्य छन्द में कवि ने वैरागी का चित्रण किया है :

भाले तिलकं विध्रत्कण्ठे वरतुलसीमालाम्।
मूर्धनि शालिग्रामस्तोमं मौञ्जीमपि कट्याम्।
कक्षे भगवद्गीतापुस्तकं शंखमथो नै घण्टाम्।
भजता है वैरागी वैष्णव जय जय सीताराम ।।१०।।

गुमानी कवि के कुछ छन्दों के चारों चरण चार भिन्न-भिन्न भाषाओं में निबद्ध हैं। इनमें प्रथम चरण हिन्दी, द्वितीय चरण कुमाऊँनी, तृतीय चरण नैपाली और चतुर्थ चरण संस्कृत-भाषा का है। उदाहरणार्थ :

बाजे लोग त्रिलोकनाथ शिव की पूजा करैं तो करैं।
क्वे क्वे भक्त गणेश का जगत में बाजा हुनी त हुन।
राम्रो ध्यान भवानि का चरण में गर्छन कसेले गरन।
धन्यात्मातुलधामनीह रमते रामे गुमानी कविः ।।११।।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के कुछ पद्यों में व्रजमिश्रित खड़ी बोली के दर्शन भी होते हैं। कवि ने टिहरी (गढ़वाल)-नरेश सुदर्शन शाह के दरबार में नगर के नाम से सम्बद्ध जो छन्द रचा था, उसमें भाषा का यही रूप दिखाई देता है :

सुरगङ्गतटी रसखानमही धनकोशभरी यहु नाम रह्यो।
पदतीन बनाय रच्यो बहुविस्तर वेग नहीं जब जात कह्यो।
इन तीन पदौं के बखान वस्यो अक्षर एक ही एक लह्यो।
जनराज सुदर्शन साह पुरी टिहिरी इस कारण नाम रह्यो ।।१२।।

कवि गुमानी-विरचित हिन्दी-काव्य के उपयुक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवियों में ऐतिहासिक दृष्टि से इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।●

राजकीय इण्टर कॉलेज
कनालीछीना
पिथौरागढ़

भारतेन्दु की खड़ी बोली की प्रामाणिक रचनाएँ

● डॉ॰ कुमारी उषा माथुर

युगनिर्माता एवं बहुभाषाविद् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की साहित्यिक प्रतिभा की परिचायक जो सामग्री आज उपलब्ध होती है, उसके आधार पर यह बात पूर्ण अधिकार के साथ नहीं कही जा सकती कि वह उनकी सम्पूर्ण साहित्यिक पूँजी है। फिर भी, उससे भारतेन्दु की भाषा तथा साहित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं उनके बहुमुखी व्यक्तित्व से परिचय प्राप्त हो जाता है। उन्होंने अपने अल्प जीवनकाल में अनेकानेक भाषाओं की रचनाएँ हिन्दी-साहित्यजगत् को प्रदान कीं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्व उनकी व्रजभाषा एवं खड़ी बोली की रचनाओं को प्राप्त है। इनमें भी खड़ी बोली की रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण तथा संख्या में अधिक हैं।

भारतेन्दु की अनेक रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। इनका उत्तरदायित्व एक अंश तक उनके बहुमुख व्यक्तित्व पर है; क्योंकि प्रथम तो वह स्वभाव से दानी थे, द्वितीय जीवन के शेषांश में उनकी आर्थिक अवस्था भी शोचनीय हो गई थी। अतः, वह अपनी रचनाएँ अन्य व्यक्तियों को दे दिया करते थे और वे लोग उनको अपने नाम से प्रकाशित करते थे। पारिवारिक झगड़ों तथा आपसी कलह के कारण भी भारतेन्दु की अनेक रचनाएँ लुप्त कर दी गईं। इसके पश्चात् जो शेष रहीं, वह उपेक्षा की दृष्टि से देखी गईं, फलतः दीमकों ने समाप्त कर दीं। इनमें जो कुछ शेष रही, वह अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में तथा दुष्प्राप्य भी है। यह निम्नांकित रूपों में उपलब्ध होती है—

१. हस्तलिखित रूप में।

२. मुद्रित या प्रकाशित रूप में।

(क) पत्र-पत्रिकाओं में (भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों द्वारा प्रकाशित)।

(ख) पुस्तक के रूप में (भारतेन्दु तथा उसके सहयोगियों द्वारा प्रकाशित तथा सम्पादित)।

(ग) संग्रह-ग्रन्थों के रूप में।

१. हस्तलिखित सामग्री : भारतेन्दु की रचनाओं के जो हस्तलेख प्राप्त होते हैं, उनमें उनकी 'काश्मीर-कुसुम' रचना के कुछ अंश की पाण्डुलिपि तथा दो-तीन पत्र हैं। यह खड़ी बोली और उर्दू में लिखित हैं। इनके साथ भारतेन्दु के समकालीन लेखकों तथा कुछ व्यक्तियों के साधारण व्यावहारिक पत्र भी हैं। इनसे भारतेन्दु तथा उनके युग की भाषा-शैली एवं लिपि के यथार्थ स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है।

२. मुद्रित सामग्री : (क) पत्र-पत्रिकाएँ—भारतेन्दु की प्राप्त होनेवाली रचनाओं का अधिकांश उनके तथा अन्य लेखकों के द्वारा सम्पादित पत्रिकाओं में भी प्रकाशित है। तत्पश्चात् उसको पुस्तक के रूप में संकलित किया गया है। यह जिन पत्रिकाओं में प्रकाशित किया गया, उनमें से 'कविवचनसुधा', 'सदादर्श', और 'बालबोधिनी-सम्मिलित कविवचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका और मोहन-चन्द्रिका', 'विद्यार्थी-सम्मिलित हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका और मोहन-चन्द्रिका', 'नवोदिता श्रीहरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'बालबोधिनी', आनन्दकादम्बिनी, 'क्षत्रिय-पत्रिका' इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उक्त विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाएँ प्रमुख रूप से दो प्रकार की हैं। प्रथम प्रकार की रचनाएँ लेखक के नाम-सहित हैं तथा द्वितीय लेखक के नाम से रहित हैं। द्वितीय प्रकार की रचनाओं के अन्त में 'शेष फिर', 'क्रम से', 'क्रम-क्रम से', 'क्रमशः' आदि लिखा है। भारतेन्दु ने अपने सम्पादकत्व में प्रकाशित अन्य लेखकों की रचनाएँ उनके नाम-सहित प्रकाशित की हैं; परन्तु अपनी रचनाएँ उन्होंने नाम-रहित प्रकाशित की हैं। केवल विज्ञापन तथा सूचनाओं में 'हरिश्चन्द्र ऐण्ड ब्रदर', 'हरिश्चन्द्र' आदि नाम दिये हैं। निबन्धात्मक पत्रों में 'यात्री' कहकर काम चलाया है। इसी प्रकार, साधारण व्यावहारिक पत्रों में प्रेषक के स्थान पर अपना नाम 'हरिश्चन्द्र' या 'भारतेन्दु' लिखा है। भारतेन्दु के सहयोगियों द्वारा सम्पादित पत्रिकाओं में भारतेन्दु की रचनाएँ उनके नाम-सहित प्रकाशित की गई हैं। ऐसी स्थिति में नाम-रहित रचनाओं में कौन-सी भारतेन्दु-कृत हैं, यह निश्चित कर सकना कठिन हो जाता है। सामान्यतः, देखा जाता है कि निजी सम्पादित पत्रिकाओं में सम्पादक की रचनाएँ नाम-रहित रहती हैं। इस दृष्टि से यहाँ भारतेन्दु के हस्तलेखों की भाषा से साम्य रखनेवाली नाम-रहित रचनाओं को भारतेन्दु-कृत स्वीकार कर लिया गया है।

(ख) पुस्तकें—भारतेन्दु की कुछ रचनाएँ फुटकर पुस्तकों के रूप में भी प्रकाशित प्राप्त होती हैं। इनके मुखपृष्ठ पर 'भारतेन्दु 'हरिश्चन्द्र-कृत', 'हरिश्चन्द्र-निर्मित', 'श्रीहरिश्चन्द्र-लिखित', 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र-रचित', 'हरिश्चन्द्र ने अनुवाद किया' आदि वाक्यांश लेखक के विषय में लिखित हैं। यह भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी मित्रों के द्वारा प्रकाशित की गई हैं, जिनमें से रामदीनसिंह, राधाकृष्णदास, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, रामकृष्ण वर्मा, साहबप्रसाद सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों के प्रथम संस्करण बनारस के आर्य यन्त्रालय, चन्द्रप्रभा प्रेस, भारतजीवन प्रेस, ब्रजचन्द्र यन्त्रालय, हरिप्रकाश यन्त्रालय, मेडिकल हाल प्रेस, विक्टोरिया प्रेस, बनारस प्रिंटिंग प्रेस, मल्लिकचन्द ऐण्ड कम्पनी, लाइट प्रेस तथा खड्गविलास प्रेस, पटना एवं नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ आदि अनेक स्थानों से प्रकाशित किये गये हैं।

(ग) संग्रह-ग्रन्थ—भारतेन्दु की रचनाओं के संग्रह भी प्राप्त होते हैं, जिनमें प्रमुख संग्रह-ग्रन्थ निम्नांकित हैं :

१. भारतेन्दु-कला, सम्पादक : रामदीन सिंह, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर पटना से प्रकाशित।

२. भारतेन्दु-ग्रन्थावली (३ भागों में), सम्पादक : व्रजरत्नदास, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित।

३. भारतेन्दु-नाटकावली, सम्पादक : व्रजरत्नदास, रामनारायण लाल इलाहाबाद, से प्रकाशित।

४. भारतेन्दु-नाटकावली, सम्पादक : श्यामसुन्दरदास।

५. भारतेन्दु के निबन्ध, सम्पादक : डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, सरस्वती-मन्दिर, बनारस से प्रकाशित।

उक्त विविध रूपों में उपलब्ध होनेवाली भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की समस्त रचनाएँ भाषा के आधार पर यथानिर्दिष्ट वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं :

१. संस्कृत की रचनाएँ। २. व्रजभाषा की रचनाएँ। ३. खड़ी बोली की रचनाएँ। ४. अन्य भारतीय भाषाओं यथा—बँगला, पंजाबी, गुजराती आदि की रचनाएँ। ५. उर्दू की रचनाएँ। ६. अँगरेजी की रचनाएँ। ७. मिश्रित रचनाएँ; यथा व्रजभाषा और खड़ी बोली मिश्रित, खड़ी बोली और अरबी-फारसी-मिश्रित, खड़ी बोली और अन्य प्रादेशिक भाषा-मिश्रित।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि जिन रचनाओं की भाषा में शब्दावली तथा व्याकरणिक प्रवृत्तयों का अनुपात खड़ी बोली के अधिक निकट है, उनको खड़ी बोली की रचना तथा जिनमें यह संस्कृत व्रजभाषा, पंजाबी, गुजराती, बँगला, उर्दू, अँगरेजी आदि के अधिक समीप है, उनको तत्सम्बन्धी भाषा की रचना कहना उचित है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि एक वर्ग की सम्पूर्ण विशेपताएँ अपरवर्ग में अनुपस्थित हैं। भाषा के विषय में भारतेन्दु का दृष्टिकोण मध्यमार्गी था। इस दृष्टि से उनकी खड़ी बोली की रचनाओं में संस्कृत, उर्दू, अँगरेजी, व्रजभाषा आदि प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग पात्र, प्रसंग, स्थान तथा काल की आवश्यकता के अनुसार यथास्थान किया गया है। यही नियम अन्य वर्ग की रचनाओं में भी क्रियाशील है।

सभी रचनाएँ इस प्रकार से लिखी गई हैं—

१. आदि से अन्त तक भारतेन्दु द्वारा लिखित।

२. जिनका कुछ अंश भारतेन्दु द्वारा लिखित है तथा कुछ दूसरों से लिखवाया गया है। यथा : 'नाटक' नामक लेख।

३. भारतेन्दु-कृत अपूर्ण रचनाएँ, जो उनके पश्चात् अन्य लेखकों के द्वारा पूर्ण की गईं।

४. दूसरों से अनुवाद करवाकर भारतेन्दु के द्वारा शुद्ध किया गया।

५. भारतेन्दु के द्वारा संगृहीत।

६. कुछ रचनाएँ, जो भारतेन्दु-कृत नहीं हैं, परन्तु प्रकाशकों ने भारतेन्दु के नाम से प्रकाशित कर दी हैं।

इन विभिन्न विधियों से लिखित उनकी समस्त रचनाओं की गणना भिन्न-भिन्न विद्वानों ने की है। राधाकृष्णदासजी ने उनकी २४८ के लगभग कृतियों का उल्लेख

किया है ।[१] जिनमें मौलिक, अनूदित तथा संगृहीत सभी प्रकार की रचनाओं का समावेश है। इसी प्रकार, व्रजरत्नदासजी ने भी उनकी रचनाओं की संख्या का उल्लेख किया है। भारतेन्दु की कुछ रचनाओं का पता उनके स्वलिखित उर्दू-पत्र से तथा उनसे सम्बद्ध मल्लिका के हस्तलिखित पत्र से भी लगता है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में अपने नाटकों की गणना की है। भारतेन्दु की अनेकानेक रचनाएँ आज भी अनुपलब्ध हैं, अतः उनकी समस्त कृतियों की संख्या के सम्बन्ध में अधिकार के साथ कुछ कह सकना कठिन है। इतना होने पर भी जो सामग्री प्राप्त होती है, उसके आधार पर उनकी खड़ी बोली की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार की हैं :

भारतेन्दु ने खड़ी बोली में काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि विभिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जो धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, व्याकरण, चरित्र-चित्रण, हास-परिहास आदि नाना विषयों से सम्बद्ध हैं। इनके अतिरिक्त, उनके विज्ञापन तथा सूचनाओं जैसे स्फुट विषयों में सर्वत्र खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है। सभी प्रमुख रचनाएँ ये हैं :

काव्य : भारतेन्दु की खड़ीबोली में लिखित काव्य-रचनाएँ बहुत कम हैं। इनमें 'उर्दू का स्यापा' तथा कुछ स्फुट पद हैं। ये सभी पद मौलिक हैं।

नाटक : भारतेन्दु के द्वारा लिखित नाटक मौलिक और अनूदित दो प्रकार के हैं। मौलिक नाटकों में 'रत्नावली' (अपूर्ण), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'प्रेमयोगिनी' (या 'काशी के छायाचित्र'), 'विषस्य विषमौषधम्', 'चन्द्रावली', 'भारत-दुर्दशा', 'भारत-जननी', 'नीलदेवी', 'अँधेर नगरी', 'सती प्रताप', 'माधुरी'[२] आदि हैं। अनूदित नाटकों में 'विद्यासुन्दर' उनका प्रथम नाटक है। इसके अतिरिक्त 'पाखण्ड-बिडम्बन', 'धनंजय-विजय', 'कर्पूरमंजरी', 'मुद्राराक्षस' तथा 'दुर्लभ बन्धु' हैं। 'दुर्लभ बन्धु' अपूर्ण रह गया था, जिसे क्रमशः रामशंकर व्यास तथा राधाकृष्णदासजी ने पूरा किया।[३]

इनके अतिरिक्त, भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक लेख में 'नवमल्लिका' और जैसा काम वैसा परिणाम' की गणना भी की है। राधाकृष्णदासजी ने नवमल्लिका के साथ 'मृच्छकटिक' तथा 'प्रभास' या 'प्रवास' की गणना की है।

भारतेन्दु के निबन्ध तथा अन्य गद्यात्मक रचनाएँ इस प्रकार की हैं—

इतिहास और पुरावृत्त-सम्बन्धी : 'अगरवालों की उत्पत्ति', 'दिल्ली-दर्बार-दर्पण', 'उदय-पुरोदय', 'काश्मीर-कुसुम', 'कालचक्र' तथा 'अकबर और औरंगजेब' आदि हैं।

१ राधाकृष्ण ग्रन्थावली, सम्पादक : श्यामसुन्दरदास. पृ० ४२१।

२. व्रजरत्नदासजी ने इसको रावकृष्णदेवशरण सिंह की रचना कहा है। (भारतेन्दु-नाटकावली, प्रथमभाग का अनुवचन, पृ० १) 'भारतेन्दु के नाटक' नामक एक लेख में इसकी गणना भारतेन्दु-कृत नाटकों में की गई है। इसी प्रकार 'आनन्दकादम्बिनी' (मार्गशीर्ष, संवत् १९४२) में इसकी गणना भारतेन्दु की रचनाओं में की गई है। भारतेन्दु-कृत 'चन्द्रावली नाटिका' की भाषा से साम्य रखने के कारण इसे भारतेन्दु की रचना कहा जा सकता है।

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : व्रजरत्नदास, पृ० २०५।

धर्म-सम्बन्धी : इसके अन्तर्गत हिन्दू तथा मुस्लिम-धर्म से सम्बद्ध रचनाएँ हैं, जिनमें 'उत्सवावली', 'कुरान शरीफ', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' जैसी रचनाएँ हैं।

जीवनचरित्र : 'कालिदास', 'सूरदास' आदि कवियों के अतिरिक्त 'लॉर्ड म्यो' 'लॉर्ड लारेंस' आदि की जीवनियाँ भी लिखीं। इसके अतिरिक्त और भी कई विद्वानों के जीवनचरित भारतेन्दु ने लिखे।[१]

कहानी और उपन्यास : इसमें 'मदालसोपाख्यान', 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (अपूर्ण), 'मालती' तथा 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' आदि हैं।

प्रहसन और स्तोत्र : इसके अन्तर्गत 'सबै जात गोपाल की', 'जातिविवेकिनी सभा', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' आदि प्रहसन तथा 'वेश्यास्तोत्र', 'कंकरस्तोत्र', 'अंग्रेज-स्तोत्र' आदि प्रमुख हैं।

यात्राओं का वर्णन भी भारतेन्दु ने लिखा है, जिसमें 'हरिद्वार', 'जब्बलपुर', 'लखनऊ', 'सरयू पार की यात्रा', 'वैजनाथ की यात्रा' के वर्णनों की गणना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उनके 'नाटक', 'पाँचवें पैगम्बर', 'हिन्दी-व्याकरण', 'ग्रीष्म ऋतु', 'नई भाषा की कविता' आदि खड़ी बोली में लिखित लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं।

भारतेन्दु की ये सभी रचनाएँ जो विभिन्न रूपों में तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रकाशित प्राप्त होती हैं, उनमें से कौन-सी प्रामाणिकता के अधिक निकट है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। यह कहा जाता है कि भारतेन्दु को अपने जीवनकाल में ऐसा कोई विश्वास-पात्र नहीं मिला था, जो उनकी समस्त रचनाओं के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेता। इस कारण भारतेन्दु ने अपनी कुछ रचनाओं को स्वसम्पादित पत्रिकाओं में तथा कुछ को पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त, कुछ कृतियों को अन्य व्यक्तियों से सम्पादित करवाया, जिसमें उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जीवन के अन्तिम दिनों में, जब कि उनका स्वास्थ्य क्षीण हो चुका था, 'क्षत्रिय पत्रिका' के सम्पादक रामदीन सिंह को अपना विश्वासपात्र जानकर अपनी सभी रचनाओं के प्रकाशन का अधिकार दे दिया। रामदीनसिंह ने भारतेन्दु की अनेक रचनाएँ उनके जीवनकाल में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित कीं। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी वे इस कार्य को करते रहे। इस आधार पर उक्त प्रेस से प्रकाशित रचनाओं का पाठ सर्वाधिक प्रामाणिक होना चाहिए था, परन्तु खड़ी बोली के विकास-क्रम की स्वाभाविकता एवं एकरूपता की दृष्टि से तथा भारतेन्दु एवं उनके समकालीन अन्य लेखकों के हस्तलेखों की भाषा के आधार पर पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाएँ सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। इनके पश्चात् भारतेन्दु के जीवन-काल-पर्यन्त विभिन्न प्रेसों से प्रकाशित पुस्तकें भी हस्तलेखों की भाषा से अनेक अंशों में साम्य रखती हैं। 'खड्गविलास प्रेस' से प्रकाशित रचनाएँ तत्कालीन होते हुए भी काफी बाद की हैं। यही बात नवलकिशोर प्रेस तथा नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्करणों क

---

१. राधाकृष्णदास तथा व्रजरत्नदासजी ने 'शंकराचार्य' नामक रचना की गणना भी इसके अन्तर्गत की है, परन्तु यह 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', खण्ड १, संख्या २ में पी०_जी० बाबू शास्त्री के नाम से प्रकाशित हुई है। इस आधार पर इसे भारतेन्दु कृत कहना कठिन है।—ले०

विषय में भी है, जिनमें स्थान-स्थान पर संशोधन किये जाने के कारण वर्त्तनी तथा व्याकरणिक भेद पर्याप्त मात्रा में आ गया है, जिनके कारण ये रचनाएँ आज की खड़ी बोली के अनुरूप हो गई हैं। ये संशोधन सम्पादक की इच्छा के अनुसार किये गये हैं या प्रेस की असावधानी के कारण हो गये हैं, इसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। भावागत स्वाभाविकता की दृष्टि से संग्रह-ग्रन्थों में 'भारतेन्दु के निबन्ध' नामक संग्रह-ग्रन्थ का पाठ कुछ अंशों में मूल पाठ के निकट रखा जा सकता है।

हस्तलेखों, प्राचीन संस्करणों तथा आधुनिक प्रतियों के मध्य प्राप्त होनेवाली भेद तथा पाठान्तर को निम्नांकित रूप से देखा जा सकता है। (यहाँ पर 'क' प्राचीन प्रतियों तथा पत्रिकाओं के लिए, 'ख' खड्गविलास प्रेस की प्रतियों के लिए तथा 'ग' आधुनिक प्रतियों के लिए प्रयुक्त किया गया है।)

१. हस्तलेखों तथा 'क' प्रतियों में अँगरेजी के कुछ शब्दों में प्रयुक्त विवृत 'ऑ' ध्वनि के लिए आधुनिक काल में विकसित 'ऑ' चिह्न का प्रयोग नहीं मिलता। इसका प्रयोग सन् १८९० ई० के पश्चात् के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट है। यथा :

'क' प्रति	**'ग' प्रति**
गार्ड आव आनर	गार्ड ऑव आनर
(दि० द० द०, ह० मैं०, जन० ७७, पृ० १६)	(दि० द० द०, भा०, ग्रं० ३, पृ० १८८)

२. 'क' प्रतियों में जहाँ विशुद्ध स्वर का प्रयोग है, वहाँ 'ख' और 'ग' प्रतियों में श्रुतियुक्त स्वर का प्रयोग किया गया है। यथा :

'क' प्रति	**'ख' प्रति**	**'ग' प्रति**
ऋषिओं	ऋषियों	ऋषियों
(वै० भा०, पृष्ठ ८)	(वै० भा०, ख० वि०, पृ० ७)	(वै० भा०, भा० ग्रं० ३, पृ० ७९२)
लीजिए		लीजिये
(प्र० सबै०, ह० मैं०, खं० १, नं० २, पृ० ३६)		(प्र० सबै०, भा० ग्रं० ३, पृ० ८३२)

३. अर्द्ध अनुस्वार के (ँ) चिह्न का प्रयोग हस्तलेख तथा क' प्रतियों में नहीं मिलता। यदि कहीं किया गया है, तो वह अत्यन्त सीमित है। भारतेन्दु-ग्रन्थावली में ऐसे सभी स्थानों पर इसका बाहुल्य है। यथा :

'क' प्रति	**'ग' प्रति**
कहां	कहाँ
(उ० स्या०, ह० चं०, खं० १, सं० ९, पृ० ३)	(उ० स्या , भा० ग्रं० २, पृ०६७८)
हंसी-खेल	हँसी-खेल
(जी०, नवो० ह० चं०, खं० ११, सं० ३, पृ० २१)	(वि० प्रे० प०, भा० ग्रं० २, पृ० ५१२)

नहीं	नहीं
(वि० सु०, पृ० ८)	(वि० सु०, भा० ग्रं० १, पृ० ५)

४. पंचम वर्णों का प्रयोग 'क' और 'ख' प्रतियों में अनुस्वार के स्थान पर किया गया है। कहीं-कहीं स्वयं अनुस्वार भी प्रयुक्त है। ऐसी स्थिति में वर्त्तनी-भेद भी हो गया है। 'ग' प्रति में अधिकांश स्थानों पर पंचम वर्ण का शत-प्रतिशत स्थान अनुस्वार ने ले लिया है। अपवाद-रूप में कहीं-कहीं पंचम वर्ण भी प्रयुक्त किया गया है। यथा :

'क प्रति	'ख' प्रति	'ग' प्रति
अङ्गीकार	अङ्गीकार	अंगीकार
(श्रीव० स०, ह० मो० चं० वि०, खं० ७, सं० १२, पृ० १४)	(श्रीव० स०, ख० वि० पृ० ११)	(श्रीव० स०, भा० ग्रं, पृ० ५७८)

५. हस्तलेख तथा 'क' प्रतियों में स्थान-स्थान पर अकारण अनुनासिकता भी आ गई है। इसके दो-तीन कारण हो सकते हैं :

(क) 'न' और 'भ' के संयोग के कारण अनुनासिकता का आगमन तथा (ख) कहीं-कहीं क्षेत्रीय प्रभाव के कारण अनुनासिकता का आगमन।

'क' प्रतियों में जहाँ अकारण अनुनासिकता मिलती है, वहाँ 'ग' प्रति में निरनुनासिक रूप प्रयुक्त किये गये हैं। उदाहरणार्थ :

'क' प्रति	'ग' प्रति
भींगते (वैं० या०, ह० मो० च०, खं० ७, सं० ४, पृ० २६)	भीगते (वै० या०, भा० ग्रं० ३, पृ० ९५९)
मांलिक (भा० उ०, ब० भा०, पृ० ९)	मालिक (भा० उ०, भा० ग्रं० ३, पृ० ८९७)
आंमी (उ० स्या०, ह० चं०, खं० १, सं० ९, पृ० ४)	आनी (उ० स्या०, भा० ग्रं० २, पृ० ६७८)
मेंवा (उ०, पृ० ४)	मेवा (उ०, भा० ग्रं० ३, पृ० ७५८)
बंहकाया (कु० श०, ह० चं०, खं० ५, सं० १, पृ० ८)	बहकाया (कु० श०, आ० ग्रं० ३, पृ० ७६८)

६. हस्तलेख तथा 'क' और 'ख' प्रतियों में खड़ी बोली के कुछ शब्दों में 'फ़', 'य़' और 'व़' बिन्दु (नुक्ता)-युक्त हैं। 'ग' प्रति में यह बिन्दु-रहित हैं। उदाहरणार्थ :

'क' प्रति	'ख' प्रति	'ग' प्रति
फ़िर	फ़िर	फिर
(कु० श०, ह० चं०, खं० ५, सं० १, पृ० ८)	(कु० श०, खं० वि०, पृ० ४)	(कु० श०, भा० ग्रं० ३, पृ० ७६८)
व़ह		वह
(उ० स्या० ह० चं०, खं० १, सं ९, पृ० ४)		(उ० स्या०, भा० ग्रं० ३, पृ० ६७८)
सर्वस्व (भा० ह० प०)		सर्वस्व (भा० ह० प०, भा० ग्रं० ३, पृ० ९६९)

७. 'क' प्रतियों में 'ग्र' चिह्न के लिए ' ़ ' चिह्न का प्रयोग बहुलता से किया गया है। 'ख' प्रतियों में यह कहीं-कहीं मिल जाता है, परन्तु 'ग' प्रति में सभी स्थानों पर 'ग्र' ही प्रयुक्त किया गया है। उदाहरणार्थ :

'क' प्रति	'ख' प्रति	'ग' प्रति
संगृह	संगृह	संग्रह
(पु० अ० औ०, नवो० ह० चं० खं० ११, सं० १, पृ० १)	(पु० अ० औ०, ख० वि०, पृ० १)	(पु० अ० औ०, भा० ग्रं० ३, पृ० ११७)

८. 'क' प्रति में शब्द के अन्त के 'ह' के स्थान पर 'ए' प्रयुक्त किया गया है, जो लल्लूलाल-कृत 'प्रेमसागर' में भी यत्र-तत्र मिलता है। 'ग' प्रति में इसके स्थान पर सर्वत्र 'ह' का प्रयोग किया गया है। उदाहरण :

'क' प्रति	'ख' प्रति	'ग' प्रति
जगे	जगे	जगह
(श्रीव० स०, ह० मो० चं० वि०, खं० ७, सं० १२, पृ० १५)	(श्रीव० स०, ख० वि०, पृ० १२)	(श्रीव० स०, भा० ग्रं० ३, पृ० ५८०)

९. 'क' प्रतियों में कहीं-कहीं तालव्य 'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग मिलता है, जबकि 'ख', 'ग' प्रति में 'श' प्रयुक्त है। उदाहरण :

'क' प्रति	'ख' प्रति	'ग' प्रति
अंस	अंश	अंश
(इशु० ईश०, ह० चं०, खं० ६, सं० ७, पृ० ३)	(इशु० ईश०, ख० वि०, पृ० १३)	(इशु० ईश०, भा० ग्रं० ३, पृ० ७८५)

१०. 'क' प्रतियों में 'म', 'य' और 'व' के द्वित्व की प्रवृत्ति प्रधान है। 'ग' प्रति में यह प्रवृत्ति एक-दो स्थानों पर कठिनता से मिलती है। उदाहरण :

'क' प्रति	'ख' प्रति	'ग' प्रति
आर्य्य	आर्य्य	आर्य
(वै० भा०, पृ० ७)	(वै० भा०, ख० वि०, पृ० ६)	(वै० भा०, भा० ग्रं० ३, पृ० ७९२)
पर्व्वत		पर्वत
(हरि०, क० व० सु०, खं० ३, नं० ४, पृ० ३६)		(हरि०, भा० ग्रं० ३, पृ० ९४३)

११. 'क' प्रतियों में संयुक्त व्यंजनों की संयुक्तता को स्वरभक्ति के द्वारा समाप्त करने की प्रवृत्ति है, परन्तु 'ग' प्रति में यह नहीं है। उदाहरण :

'क' प्रति	'ग' प्रति
कुरसियाँ (दि० द० द०, ह० मै०, जन० ७७, पृ० १५)	कुर्सियाँ (दि० द० द०, भा० ग्रं० ३, पृ० १८८)

१२. शब्दों की उच्चारण-प्रकृति को ध्यान में रखते हुए 'क' प्रतियों में जो ध्वनि-परिवर्त्तन हो गया है, वह 'ग' प्रति में नहीं मिलता। यथा :

'क' प्रति	'ग' प्रति
माडवार (अ० उ०, पृ० १२)	मारवाड़ (अ० उ०, भा० ग्रं० ३, पृ० ९)
तुमारी (अ० उ०, पृ० १०)	तुम्हारी (अ० उ०, भा० ग्रं० ३, पृ० ९)

१३. 'क' प्रति में कहीं-कहीं द्वन्द्व समाहार शब्दों में से एक का लोप कर दिया गया है। उदाहरणार्थ :

'क' प्रति	'ग' प्रति
सजी सजीली पल्टनें (दि० द० द०, ह० मै०, जन० ७७, पृ० १६)	सजी पल्टनें (दि० द० द०, भा० ग्रं० ३, पृ० १८८)

१४. 'क' प्रतियों में यत्र-तत्र परसर्ग जहाँ व्यंजनान्त शब्दों के अन्त में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ शब्द के साथ मिलकर आये हैं, परन्तु 'ग' प्रति में यह प्रवृत्ति समाप्त कर दी गई है। यथा :

'क' प्रति	'ग' प्रति
इस्में (चन्द्रा०, ह० चं०, खं० ४, सं० १—३, पृ० २२)	इसमें (चन्द्रा०, भा० ग्रं० १, पृ० ४२३)
जिस्पर (हरि०, क० व० सु०, खं० ३, नं० ४, पृ० ३६)	जिसपर (हरि०, भा० ग्रं० ३, पृ० ९४४)

१५. वर्त्तमानकालिक कृदन्तीय प्रत्यय को शब्द के अन्तिम व्यंजन के साथ मिलाकर लिखने की प्रवृत्ति 'क' प्रतियों में प्राप्त होती है। यह उस युग के उच्चारण की प्रकृति कही जा सकती है, परन्तु 'ग' प्रति में यह कठिनता से कहीं मिलती है। यथा :

'क' प्रति	'ग' प्रति
सक्ता (जब्बल०, क० व० सु०, खं० ३, सं० २४, पृ० १६६)	सकता (कु० श०, भा० ग्रं० ३, पृ० ७६९)
	सक्ता (जब्बल०, भा० ग्रं० ३, पृ० ९५०)
जोत्ते (भा० उ०, ब० भा०, पृ० ९)	जोतते (भा० उ०, भा० ग्रं० ३, पृ० ८९७)

१६. हस्तलेख और 'क' प्रतियों में भविष्यत्काल की क्रियाओं में 'ऐ' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है जो सम्भवतः क्षेत्रीय बोली का प्रभाव है। इन स्थानों पर 'ग' प्रति में 'ए' प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण :

'क' प्रति	'ख' प्रति	'ग' प्रति
करै (कु० श०, ह० चं०, खं० ५, सं० १, पृ० ७)	करै (कु० श०, ख० वि०, पृ० ३)	करे कु० श०, भा० ग्रं० ३, पृ० ७६८)

१७. 'क' प्रतियों में द्वित्व प्रयोगों में संख्या '२' का प्रयोग किया गया है। ऐसा सम्भवतः स्थान के बचाव की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। शब्द की पुनरुक्ति भी कहीं-कहीं की गई है, जो अत्यल्प मात्रा में है। 'ग' प्रति में सर्वत्र शब्द की पुनरुक्ति प्रधान है। संख्या लिखने की प्रकृति नहीं मिलती।

१८. हस्तलेखों और 'क' प्रतियों में पूर्ण विराम के लिए बिन्दु या वृत्त के प्रयोग की प्रवृत्ति प्रधान है। यह प्रवृत्ति लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनाओं में भी प्राप्त होती है। 'ख' और 'ग' प्रतियों में सर्वत्र खड़ी पाई प्रधान है।

१९. हस्तलेखों तथा 'क' प्रतियों में एक पंक्ति के अन्तर्गत समाप्त न हो सकनेवाला शब्द 'द्वितीय पंक्ति के प्रारम्भ में विना किसी चिह्न के लिखा गया है। 'ग' प्रति में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती, यदि कहीं है, तो चिह्नयुक्त है। उदाहरण :

... .जाए (प्रथम पंक्ति का अन्त)
गा...... । (द्वितीय पंक्ति का आरम्भ)

भाषा एवं लिपिगत इस तुलनात्मक निर्वचन से स्पष्ट होता है कि खड़ी बोली के विकास-क्रम की स्वाभाविकता की दृष्टि से एवं भारतेन्दुकालीन हस्तलेखों की भाषा से साम्य रखने के कारण 'क' वर्ग के अन्तर्गत आनेवाली प्रतियाँ अधिक प्रामाणिक हैं।

संकेत-चिह्न :

अ० उ० = अगरवालों की उत्पत्ति, मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस, १८७१ ई०।
ईशु० ईश० = ईशु खृष्ट और ईश कृष्ण।
उ० = उत्सवावली, हरिप्रकाश, यन्त्रालय, बनारस।
उ० स्या० = उर्दू का स्यापा।
कु० श० = कुरानशरीफ।
चन्द्रा० = चन्द्रावली नाटिका।
जी० = जीवन का दैन्य।
दि० द० द० = दिल्ली-दर्बार-दर्पण।
पु० अ० औ० = पुरावृत्त संग्रह अकबर और औरंगजेब।
प्र० सबै० = प्रहसनपंचक : सबै जात गोपाल की।
ब० भा० = बलिया में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।
भा० उ० = भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो ?
भा० ह० प० = भारतेन्दु का हस्तलिखित पत्र।
वै० भा० = वैष्णवता और भारतवर्ष, विक्टोरिया प्रेस, बनारस १८८४ ई०।
वै० या० = वैद्यनाथ की यात्रा।
वि० प्रे० प० = विनय प्रेम पचासा।
वि० सु० = विद्यासुन्दर, भारतजीवन प्रेस, काशी, १८८६ ई०।
श्रीव० स० = श्रीवैष्णव सर्वस्व।
हरि० = हरिद्वार।
क० व० सु० = कविवचन सुधा। ख० वि० = खड्गविलास प्रेस। भा० ग्रं० = भारतेन्दु-ग्रन्थावली। नवो० ह० चं० = नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका।
ह० मो० चं० = हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहनचन्द्रिका। ह० मै० = हरिश्चन्द्र मैगजीन। जन० = जनवरी। खं० = खण्ड। नं० = नम्बर। सं० = संख्या। पृ० = पृष्ठ। ●

द्वारा : डॉ० एस्० एन्० माथुर
'हरनिवास'
४० पानदरीबा, चारबाग, लखनऊ

हमारा स्वाध्याय-कक्ष

हिन्दी की बेसिक शब्दावली[१] : प्रस्तुत पुस्तक में प्रोफेसर एस० नूरुल हसन का प्राक्कथन तथा लेखक द्वारा प्रस्तुत विषय-सूची, भूमिका (पृ० IX-X), प्रस्तावना (पृ० १—११), शब्दावली की विविध सूचियाँ (पृ० १५—४८; पृ० ५३—६०; पृ० ६१—६८; ७१—७८; पृ० ७९; पृ० ८०—८४) तथा दो परिशिष्ट (पुस्तक-सूची; साहित्य, जिससे शब्द-संग्रह किया गया) सम्मिलित हैं।

लेखक ने विषय-सूची में सूचियों के नामोल्लेख के साथ अध्यायों का संकेत नहीं किया है, जबकि पुस्तक में सूचियों से पूर्व 'अध्याय प्रथम', 'अध्याय द्वितीय' तथा 'अध्याय तृतीय' संकलित हैं। 'भारत-सरकार की बेसिक शब्दावली से अन्तर' रखनेवाली सूची का संकेत शीर्षक रूप में नहीं है। अध्याय द्वितीय के अन्तर्गत दो सूचियाँ हैं। एक सूची 'अ-भाग' शीर्षक के अन्तर्गत है और दूसरी 'आवृत्ति के अनुसार शब्दावली' शीर्षक के। लेखक ने बताया है कि दूसरी सूची 'ब-भाग'-वाली है (पृ० ५३), परन्तु शीर्षक रूप में 'अ-भाग' शीर्षक की भाँति 'ब-भाग' शीर्षक नहीं है। 'अ-भाग'वाली सूची 'अकारादि क्रम से' है और 'ब-भाग'वाली 'आवृत्ति के अनुसार', परन्तु 'अ-भाग' वाली सूची में 'ब-भाग' की सूची की भाँति 'अकारादि क्रम' से शीर्षक नहीं है। 'अध्याय तृतीय' में जैसे सेक्शन (३. १, ३. १. १. आदि) किये हैं, वैसे अन्य अध्यायों के नहीं हैं। अध्याय प्रथम की जो आवृत्तियाँ हैं, वे अँगरेजी-अंकों में हैं तथा शेष अध्यायों की हिन्दी-अंकों में। तृतीय अध्याय में 'अकारादि क्रम से' जो दूसरी सूची दी है, उसमें आवृत्तियों का उल्लेख ही नहीं है। पृ० १५ पर 'उस' की आवृत्ति ५३८ अंकित है, जबकि पृ० ७१ पर ५३१। इस प्रकार, सूचियों की प्रस्तुति में एकरूपता तथा विषय-सूची के विषय एवं सूचियों के विषयों में (शीर्षकों में) संगति का अभाव प्रतीत होता है। चेष्टा करने पर पाठक अवगत हो सकता, परन्तु एक दृष्टि में जो दृष्टिगोचर होना चाहिए, वह नहीं हो पाता। डॉ० भाटिया की यह पुस्तक सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में समझी जा सकती है, परन्तु उसमें उक्त तथ्यों का अभाव खलता है।

प्रोफेसर नूरुल हसन ने 'हिन्दी की बेसिक शब्दावली' के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किया है, वह लेखक की दृष्टि एवं धारणा के अत्यन्त अनुकूल है। भूमिका में लेखक ने बेसिक शब्दावली की योजना तथा आभार-प्रदर्शन की बात कही है। इसमें अन्य प्रसंगों

---

१. लेखक : डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया; प्रकाशक : अलीगढ़ मुस्लिम-विश्वविद्यालय, अलीगढ़; प्रथम संस्करण १९६८ ई०; पृ० VII—X, १—९०; : मूल्य अनुल्लिखित।

(डॉ० घाटगे की 'फोनेमिक्स ऐण्ड मोर्फेमिक फ्रीक्वेन्सीज इन हिन्दी' तथा केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान, आगरा की 'आधारभूत शब्दावली') का भी उल्लेख किया है। वे कार्य वास्तव में लेखक के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न हैं, परन्तु जहाँ समान दृष्टिकोण है, वहाँ डॉ० भाटिया का कार्य अत्यन्त प्रामाणिक है : उक्त दोनों कार्यों में अनेक प्रकार की सैद्धान्तिक बातों का अभाव है। यहाँ मेरा दृष्टिकोण उन कार्यों की समीक्षा करना नहीं है। वह अलग विषय है।

प्रस्तावना में लेखक ने 'बेसिक शब्दावली' के विषय में अपने सधे हुए विचार प्रकट किये हैं। अनेक विद्वानों ने इस विषय में अनेक प्रकार के विचार प्रकट किये हैं और उन्हीं के अनुकूल अनेक भाषाओं में बेसिक शब्दावलियाँ प्रस्तुत की गई हैं। परन्तु, यहाँ देखना यह है कि लेखक ने किस दृष्टि एवं आवश्यकतावश यह कार्य प्रस्तुत किया है। इस कृति का मूल्यांकन इन्हीं दो सीमाओं में होना चाहिए। प्रस्तावना के आरम्भ में ही लेखक ने अपना दृष्टिकोण उपस्थित कर दिया है। उनका बेसिक शब्दावली से तात्पर्य उस सीमित शब्दावली से है, जिससे भाषा का सामान्य व्यावहारिक ज्ञान हो जाय। यह शब्दावली भाषा का अन्तर्भाग है तथा इसे आधार-स्वरूप मानकर भाषा का ढाँचा प्रस्तुत किया जा सकता है। यह एक व्याकरणिक दृष्टि है। इस दृष्टि से डॉ० भाटिया का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में इस प्रकार के कार्यों का अभाव है। हिन्दी की बेसिक शब्दावली की आवश्यकता विशेष परिस्थितिजन्य है; क्योंकि हिन्दी सम्पूर्ण भारत में उन लोगों की भी भाषा है, जो हिन्दी सीखना चाहते हैं।

लेखक ने अपनी बेसिक शब्दावली में प्रयोग को आधार माना है। होना भी यही चाहिए। बिना इसके इस प्रकार की बेसिक शब्दावली कैसी ! प्रयोगाधिक्य भाषा के मूल उपादानों को चरितार्थ करते हैं।

लेखक ने BASIC शब्द का हिन्दी के प्रसंग में रोचक मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है : B = Bhartiya (भारतीय), A = Adhunik (आधुनिक), S = Sanskrit-mulak (संस्कृतमूलक), I = Islami (इस्लामी), C = Chalu (चालू)। वास्तव में, हिन्दी में इन उपादानों का स्वरूप स्वभावज बन गया है। इन उपादानों का मूल कितना है तथा पारस्परिक आनुपातिक क्षमता कितनी है, यह हमारे लिए चिन्त्य है। डॉ० भाटिया ने ऐसे परिणाम अपनी प्रस्तावना में प्रस्तुत नहीं किये हैं।

बेसिक शब्दावली की सामग्री 'हिन्दुस्तान दैनिक' तथा विभिन्न साहित्यिक विधाओं (पृ० ८८-८९) से ली गई है। शब्द-चिटसंख्या ५०,००० तथा शब्द-संख्या १०,००० बताई गई है। इतनी सामग्री लेखक के दृष्टिकोण को पर्याप्त रूप में व्यक्त करती है, परन्तु कहीं-कहीं प्रस्तुति-दोष आ गया है।

लेखक ने आवृत्ति के अनुसार एक मिश्रित (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि की) प्रस्तुति की है, फिर संज्ञा को छोड़कर सर्वनाम, विशेषण, अव्यय, क्रियाविशेषण, समुच्चय-बोधक, विस्मयादिबोधक, परसर्ग, धातु, उपसर्ग तथा प्रत्यय की आवृत्ति-सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। जहाँ ये सूचियाँ हैं, वहाँ संज्ञा-सूची अवश्य होनी चाहिए। फिर भी, ये सूचियाँ

बड़े महत्त्व की हैं; क्योंकि इनके द्वारा प्रत्येक कोटि के महत्त्व को आँका जा सकता है और तदनुसार भाषा-प्रशिक्षण तथा अन्य प्रकार के व्यवहार की योजना बनाई जा सकती है। यद्यपि लेखक ने प्रस्तावना में इन पारस्परिक सम्बन्धों के परिणामों को उपस्थित नहीं किया है, तथापि इन सूचियों से ये तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं। जहाँ लेखक ने परसर्ग, उपसर्ग, प्रत्यय, अव्यय की आवृत्ति-सूचियाँ प्रस्तुत की हैं, उनसे हिन्दी के गठन को आँका जा सकता है, परन्तु लेखक ने यहाँ भी त्रुटि की है। जहाँ ये आवृत्ति-सूचियाँ हैं, वहाँ विभक्तियों की आवृत्ति-सूचियों की अत्यन्त आवश्यकता है। लेखक ने इनको निकालकर (यथा : आँखें', 'आँखों' से—'एँ' तथा 'ओं' निकालकर तथा क्रियापदों से विभक्तियों को छोड़कर) प्रातिपदिकों एवं धातुओं (लेखक की दृष्टि में शब्द) की आवृत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यह नितान्त अवैज्ञानिक है। जब भाषा के गठनात्मक चिह्नकों को स्थान दिया जा रहा है, तब वहाँ विभक्तियों के साथ भेदभाव क्यों? इनके विना गठन का स्वरूप उपस्थित नहीं होता। इसी प्रसंग में एक बात और महत्त्वपूर्ण है। वाक्यान्तर्गत पद-क्रम तथा पद-सन्निधि की आवृत्तियों को भी उपस्थित किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ : कितनी आवृत्ति 'कर्त्ता-क्रिया', 'कर्त्ता-कर्म क्रिया', क्रिया-कर्त्ता' आदि जैसे क्रमों की है? कितनी सन्निधि आवृत्ति 'विशेष्य-विशेषण', 'विशेषण-विशेष्य', 'क्रियाविशेषण-क्रिया', 'क्रिया-मुख्य-क्रिया-सहायक' आदि की है? विभक्तियों के माध्यम से अन्विति का पता लगाया जा सकता है। इस प्रकार, हिन्दी के गठन का समग्र रूप उतारा जा सकता है। जिन सूचियों में लेखक ने प्रातिपदिकों एवं धातुओं की आवृत्ति प्रकट की है, वहाँ उनके अतिरिक्त पूर्ण पदों की सूचियाँ दी जानी चाहिए या पूर्ण पदों को सूची में स्थान मिलना चाहिए। यथा, 'आँखें', 'आँखों', 'गए', 'चला' आदि। जैसा लेखक का उद्देश्य है, पदों तथा उनके घटकों की आवृतियाँ प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है।

बेसिक शब्दावली के लिए लेखक ने हिन्दी के एक स्तर (परिनिष्ठित हिन्दी—बोली-भेदों से रहित) को चुना है। यह अत्यन्त आधारभूत वैज्ञानिक तथ्य है। इस स्तर पर जो भी शब्द (फारसी, संस्कृत, तद्भव आदि) प्रयोग में हों, वह हिन्दी का ही होगा। यहाँ उर्दू-हिन्दी जैसी समस्या के लिए कोई व्यायाम नहीं मिलता। जो विषय 'प्रस्तावना' से सम्बद्ध हैं, उन्हें सूचियों के साथ तथा परिशिष्ट में जोड़ दिया है (पृ० ४९, पृ० ५३३ तथा पृ० ८८—९०)। यह प्रस्तुति-दोष है। इनका प्रस्तावना से घनिष्ठ एवं आवश्यक सम्बन्ध है। इन्हें प्रस्तावना में स्थान मिलना चाहिए।

पृ० ४९ पर जो शब्दावली प्रस्तुत की है, उसकी केवल शाब्दी महत्ता है, न कि व्याकरणिक। प्रस्तुत अध्ययन में व्याकरण की प्रधानता अधिक है। व्याकरण के प्रयोग को जान लेने के पश्चात् इन शब्दों की महत्ता है। इस धरातल पर बेसिक शब्दावली की धारणा लेखक की प्रस्तुत धारणा से भिन्न होगी। अतः, इस शब्दावली का सम्बन्ध लेखक की सूचियों से नहीं जुड़ता। इस सम्बन्ध में लेखक को दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत करके इस प्रकार की शब्दावली स्थिर करनी होगी। यह कार्य लेखक के कार्य का पूरक होगा।

दोषों तथा अभावों के बावजूद डॉ० भाटिया का कार्य सराहनीय है। बेसिक शब्दावली का कार्य इतना आसान नहीं है, जितना अक्सर सामान्य लोग समझ लिया करते हैं। उसमें अधिक समय, अथक परिश्रम तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता है। यह कार्य प्रत्येक के वश का नहीं है। डॉ० भाटिया के कार्य को देखते हुए उनमें उक्त तीनों बातों का पता लगता है, परन्तु पूर्णता का दावा कोई कैसे कर सकता है। पूर्णता प्रत्येक अवस्था में असम्भव है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में इस कार्य का सूत्रपात हो गया।

—डॉ० मुरारी लाल उप्रेती

०

छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन[१] : डॉ० कुमार विमल अपने मौलिक ग्रन्थ 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' के प्रकाशन से आलोचनाशास्त्र के क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके हैं। उनका दूसरा ग्रन्थ 'छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन' हमारे सामने है। वस्तुतः, ये दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं। पहले ग्रन्थ में सौन्दर्यशास्त्र की, व्यापक धरातल पर, शास्त्रीय मीमांसा है और दूसरे में उसके व्यावहारिक पक्ष का हिन्दी की छायावाद-काव्यधारा के आधार पर उद्घाटन है। प्रथम सिद्धान्त है, तो द्वितीय विनियोग। दोनों पटना-विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए समर्पित और स्वीकृत शोध-प्रबन्ध के अंश हैं।

इस ग्रन्थ में डॉ० विमल ने पाँच अध्यायों में अपने विषय का सांगोपांग विवेचन किया है। प्रथम अध्याय छायावादी काव्य की सामान्य पीठिका है। उनकी धारणा है और उसे सिद्ध करने का सफल प्रयत्न भी किया गया है कि अबतक छायावाद का काव्यशास्त्रीय और भाषाशास्त्रीय अध्ययन तो हुआ है, परन्तु उसका सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अछूता रह गया है। सौन्दर्य केवल काव्यकला का ही आधार नहीं है, अपितु समग्र कलाओं में अखण्ड रूप से व्याप्त है। उस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कलाकार की दक्षता और विभिन्न उपादानों के संग्रह से कला में नाना रूप ले सकती है, परन्तु उसकी अरूप और अमूर्त्त सामान्य सत्ता सर्वत्र एकाकार होकर विराज रही है। अतएव, अन्य कलाओं से पृथक् करके काव्यकला का अनुशीलन अपूर्ण है। इस मन्तव्य को छायावाद के स्तम्भचतुष्टय—प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा के स्वतः अभिमत विवेचनों से स्पष्ट किया गया है। डॉ० विमल ने छायावाद के इन चार प्रमुख कवियों को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है बृहत्तर छायावाद और गौण छायावाद के कवियों का समावेश नहीं किया है; क्योंकि वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्रीय प्रवृत्तियाँ उन्हीं चारों में पूर्णतः पल्लवित हुई हैं। उनकी कविता के भी उन्हीं अंशों और कालावधियों पर विचार किया गया है, जो शुद्ध छायावादी हैं। उनकी छायावादोत्तर रचनाओं को छोड़ दिया गया है। छायावाद पर यूरोपीय रोमाण्टिक कविता का प्रभाव ऐतिहासिक पर्यालोचन के साथ प्रदर्शित करते हुए भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता का और भारतीय परिवेश में उसके सहज विकास का युक्तियुक्त विवेचन किया गया है।

१. लेखक : डॉ० कुमार विमल; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य : चौदह रुपये।

छायावाद के सांगीतिक तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए रवीन्द्रनाथ का प्रभाव भी परिलक्षित किया गया है, विशेषतः निराला पर। महादेवी स्वयं चित्रकार हैं और मूर्त्तिकला से अनुप्राणित भी हैं। उनकी कविताओं में चित्रधर्मिता का पर्यवेक्षण किया गया है। अन्य कवियों के शब्दचित्र भी बिम्बविधान द्वारा काव्य की चित्रधर्मिता को विशद करते हैं। इस प्रकार, काव्य को संगीत और चित्रकलाओं के तत्त्वों से अन्तःसम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में छायावादी कविता में सौन्दर्य-चेतना की समीक्षा की गई है। छायावादी कवि निसर्गतः मांसल सौन्दर्य के प्रेमी न होकर अमूर्त्त और आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रेमी हैं। उनका सौन्दर्य बहिर्निष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है। वे प्रकृति की सुषमा से जहाँ अभिभूत हुए हैं, वहाँ नारी की आन्तरिक रमणीयता से भी आकृष्ट हुए हैं। नारी का शारीरिक सौन्दर्य उनके मानस में आनन्द की सृष्टि नहीं करता, ऐसी बात नहीं, परन्तु उसका आन्तरिक सौन्दर्य दैहिक सौन्दर्य को जीवन प्रदान करता है। वे प्रकृति में नारी का आरोप करते हैं और नारी में प्रकृति की प्रतिच्छाया देखते हैं। यह आरोप और प्रतिच्छाया प्रसंग पर निर्भर करती है और कवि के संस्कार पर भी। रहस्यवादी कवि सौन्दर्य में उस व्यापक सत्ता का आस्तिक भावना से चिरन्तन आभास पाता है, जो अन्यत्र प्रियतम का रूप धारण कर सकता है और वासनाशून्य प्रेम का आलम्बन बन सकता है। डॉ० विमल ने विभिन्न कवियों के सौन्दर्यचेतनांश की विशिष्टताओं को भली भाँति प्रदर्शित किया है।

कला के चार प्रमुख तत्त्व हैं—सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक। द्वितीय अध्याय में सौन्दर्यतत्त्व को स्पष्ट करके डॉ० विमल तृतीय में छायावादी कविता में कल्पना-तत्त्व का अन्वेषण करते हैं। वे कल्पना के मनोविज्ञानशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय विवेचन से ही काव्य के अन्तःस्वारस्य को पूरी तरह पकड़ पाने में आलोचक को अक्षम पाते हैं। विना सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन के अन्य शास्त्रों के अन्य विचार-विमर्श अधूरे हैं। कल्पना का आधार अनुभूति है। सर्वदा अननुभूत तथ्य की या भाव की कल्पना असंगत है। प्रत्यक्षानुभूति के साथ जुड़कर ही कल्पना अपना लक्ष्य पूरा कर सकती है। कल्पना के विभिन्न रूपों और उपादानों की ब्यौरेवार मीमांसा करके डॉ० विमल उनका छायावादी कवियों से तारतम्य प्रतिपादित करते हैं।

चतुर्थ अध्याय में छायावादी काव्य में बिम्ब-विधान विषय पर और पंचम अध्याय में छायावादी काव्य में प्रतीक-विधान विषय पर विचार किया गया है। दोनों अध्याय लेखक के परिश्रम और प्रतिभा के परिचायक हैं। बिम्ब का और प्रतीक का स्वरूप निरूपित करके उनके विभिन्न रूपों के सटीक उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। सौन्दर्यशास्त्र में बिम्ब और प्रतीक का क्या स्थान है और वे किस तरह सौन्दर्य को सहजसंवेद्य बनाते हैं, इसपर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। अभी तक हिन्दी-समीक्षाशास्त्र में बिम्ब और प्रतीक पर लिखा तो बहुत कुछ गया है, परन्तु वह इतना सुलझा हुआ नहीं है कि पाठक आसानी से उन्हें हृदयंगम कर सके। डॉ० विमल को इसका श्रेय है कि विना अनावश्यक विस्तार के उन्होंने बिम्ब और प्रतीक के विभिन्न नवरूपों का पर्यालोचन और निदर्शन इतनी अच्छी तरह से कर दिया है कि वह अनायास चित्त में समाहित हो जाता है।

ग्रन्थ का उपसंहार भी पाण्डित्यपूर्ण और विमल है। उसके सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की पद्धति का निखरा स्वरूप दृष्टिगोचर हो जाता है। यह बात नहीं है कि सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा पर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगे हैं। उसपर अनेक आशंकाएँ की गई हैं और नई-नई समीक्षा-पद्धतियों को जन्म भी दिया गया है, परन्तु उस समीक्षा को पूरी तरह अवगत करना भी अपने-आप में एक स्तुत्य लक्ष्य है, विशेषतः जबकि वह छायावाद जैसे काव्य का स्पष्ट आकलन करने में समर्थ है। इस दृष्टि से भी डॉ० विमल का ग्रन्थ मूल्यवान् है। आशा है, डॉ० विमल हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा के प्रतिष्ठापक बन सकेंगे।

—(डॉ०) वीरेन्द्र श्रीवास्तव

०

साहित्य-रामायन[1] : समीक्ष्य पुस्तक के प्रथम खण्ड में किष्किन्धा तथा सुन्दरकाण्ड और दूसरे खण्ड में लंकाकाण्ड की रामकथा भोजपुरी काव्य के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। 'नाथ'जी भोजपुरी-साहित्य के क्षेत्र में एक सुपरिचित हस्ताक्षर हैं और इन्होंने इस भाषा में अपनी कई छोटी-बड़ी कृतियों का प्रणयन किया है। प्रस्तुत 'महाकाव्य' वाल्मीकि एवं तुलसी-कृत रामायण का आधार लेकर भोजपुरी की ठेठ शब्दावली में रामकथा को उपन्यस्त करनेवाला एक स्तुत्य प्रयास है। कहीं-कहीं कवि ने बड़ी ही कलात्मकता के साथ राम, सीता आदि के जीवन की विविध महिमाओं के चित्र खींचे हैं। सीता के वियोग में राम के आकुल हृदय का एक ऐसा ही चित्र देखिए :

घन घमंड निसि नभ, घहरत घोर।
सीय विहीन जी तन में डरपत मोर॥

× ×

जलद-पटल बिच बिजुरी, कड़कति जोर।
डाँटि-डाँटि डरपावति, प्राण विभोर॥
एका-तम-निसि बिजुरी, लखि दुख मोर।
चमकि क सिय-सुधि आनति, उर कऽ अँजोर॥

स्पष्ट है कि न केवल कवि के भावों पर, प्रत्युत उनकी शब्द-योजना एवं छन्दोयोजना पर भी तुलसी के अमिट चरण-चिह्न विद्यमान हैं। यही प्रस्तुत कृति की सबसे बड़ी सीमा है। कवि यदि रामकथा का निबन्धन तुलसी की रीति से मुक्त होकर किया होता, तो कदाचित् वह अधिक सफल हो पाता। हिन्दी और संस्कृत के कुछ प्रचलित शब्दों को तोड़-मरोड़कर रखना वास्तव में भोजपुरी के प्रति अन्याय करना है। 'पराकाष्ठा' को 'पराकाष्टा', 'स्वाभाविक' को 'स्वभाविक' आदि विकृत रूप में लिख देने से वे भोजपुरी नहीं हो जायेंगे।

---

१. लेखक : महाराजकुमार दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह 'नाथ'; प्रकाशक : नवसाहित्य मन्दिर, रैनबसेरा, दलीपपुर, शाहाबाद (बिहार); पृ० सं० क्रमशः २६० और २०७; प्रथम संस्करण : मूल्य : (किष्किन्धा तथा सुन्दरकाण्ड) नौ रुपये, (सुन्दर काण्ड) सात रुपये।

भोजपुरी में यदि साहित्य-रचना करनी है, तो उसमें संस्कृत आदि के शब्दों को यथासाध्य उनके मूल रूप में रखना ही भोजपुरी के हित में होगा। दुर्भाग्य से 'साहित्य-रामायन' में प्रायः हर पृष्ठ में ऐसे अनेक शब्द हैं, जिन्हें सायास तोड़ा गया है और उनपर बलात् भोजपुरी-ध्वनि की कृत्रिम चासनी चढ़ाई गई है। 'प्रकाशक का वक्तव्य' पढ़कर और भी निराशा होती है। भ्रष्ट हिन्दी का नमूना खोजने के लिए कहीं अन्यत्र भटकना नहीं पड़ेगा।

'नाथ' जी के इस 'महाकाव्य' की चाहे जो कमियाँ हों, उनपर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। भोजपुरी में इतना बड़ा काव्य लिखकर उसे सुरुचिपूर्ण ढंग से छपवा देना ही अपने में एक बहुत बड़े साहित्यिक साहस का परिचायक है! इस दृष्टि से भोजपुरी-साहित्य के क्षेत्र में 'साहित्य-रामायन' का ऐतिहासिक महत्त्व होगा।

०

अतीत भारत[1] : समीक्ष्य पुस्तक 'नाथ'-ग्रन्थावली की पुष्प-संख्या २३ के रूप में प्रकाशित है। यह अतीत भारत की विपन्नता पर आधृत एक प्रतीकात्मक नाटक है, जिसके दो अंक एवं दस दृश्य हैं। इस रूपक की रचना, जैसा कि 'नाथ' जी ने अपनी भूमिका में स्वीकार किया है, आज से चालीस वर्ष पूर्व लेखक के राजनीतिक जीवन की दूसरी जेल-यात्रा में हजारीबाग सेण्ट्रल जेल में हुई थी। स्पष्ट है कि जिस सामाजिक एवं वैचारिक परिवेश में इस नाटक का प्रणयन हुआ था, वह आज से बिलकुल भिन्न था। इसकी भाषा-शैली, शिल्प आदि का महत्त्व भी तत्कालीन हिन्दी-संसार के लिए कुछ रहा होगा, जब कि हिन्दी में मौलिक नाट्य-साहित्य बहुत कम लिखा गया था। किन्तु, आज की दृष्टि से इस कृति में ऐसा कुछ नहीं है, जो साहित्य के प्रकाश में विचारणीय हो। अत्यन्त, लँगड़ाती हुई कथावस्तु तथा भाषा की अशुद्धियों से भरा हुआ कलेवर—'अतीत भारत' में सब कुछ नाट्यातीत ही है। यों, इस नाटक को कोई ऐतिहासिक महत्त्व देना चाहें, तो हमें इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है।

०

पल्लवी[2] : आलोच्य पुस्तक माधवनजी की दो सौ सत्तावन मुक्तकों का आकर्षक संकलन है। 'पल्लवी का गेट-अप, छपाई, कागज आदि इतने सामान्य कोटि के हैं कि पहली दृष्टि में उसके स्वयं सामान्य होने का भ्रम हो जाता है। किन्तु, यह सही अर्थों में भ्रम है—पल्लवी का अन्तर इतना मधुर, सान्द्र एवं शीतल है कि वह पाठकों के हृदय को अपनी छाया में सहज ही खींच लेती है। सफल कविता अनुभूति एवं अभिव्यंजना की समन्वित शक्ति से प्रसूत होती है। माधवनजी का कवि जीवन की गहनता में उतरा है और उसे

---

१. लेखक : श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह 'नाथ'; प्रकाशक : नवसाहित्य-मन्दिर, रैनबसेरा, दलीपपुर, शाहाबाद (बिहार); प्रथम संस्करण ; पृ० सं० ७४ ; मूल्य साढ़े तीन रुपये।

२. रचयिता : श्रीआनन्दशंकर माधवन; प्रकाशक : अमरावती, मन्दार विद्यापीठ, भागलपुर (बिहार); प्रथम संस्करण; पृ० सं० २७०+१२; मूल्य : आठ रुपये।

उसने अनुकूल वाणी भी प्रदान की है। विधा की दृष्टि इसे नवीन कहा जा सकता है, किन्तु इसका अन्तस्तत्त्व सोद्देश्य साहित्य-सर्जना पर खड़ा होने के कारण क्लैसिक पुरातनता का प्रतिनिधि है। जीवन के रस से भीने हुए यहाँ कई ऐसे चित्र हैं, जो हमारे हृदय का स्पर्श करते हैं। कवि के स्वप्न आकांक्षा, तड़प, उपालम्भ आदि निर्वैयक्तिक चेतना के जाग्रत् अंश बन गये हैं, यह उसकी सबसे बड़ी सफलता है। एक चित्र देखिए :

मैं लिखता हूँ इसलिए कि
प्रत्येक वृक्ष कल्पतरु बन जाय
प्रत्येक पत्थर पारस बन जाय
× ×
जिस दिन इस साधना में मैं सफल हो जाऊँगा
उस दिन इसी कलम पर मेरी समाधि हो जायगी।

भावों में कहीं कोई पेच नहीं, भाषा में कहीं कोई प्रदर्शन नहीं, अभिव्यक्ति में कहीं कोई उलझन नहीं—पल्लवी इसी का नाम है। काश, पल्लवी का प्रकाशन सुरुचिपूर्ण ढंग से किया गया होता।

—(डॉ०) वसन्तकुमार

०

चेहरा एक हजारों दर्पण[1] : समीक्ष्य पुस्तक कवयित्री साध्वी मंजुला की चौहत्तर गीत-कविताओं का संकलन है। गीत-रचना की यह विशेषता होती है कि उसमें एक ही भाव-चित्र का उपस्थापन होता है। वहाँ विस्तार के लिए स्थान नहीं होता। आरम्भ में कवयित्री ने स्वीकार किया है कि उसने अपने गीतों में 'खण्डित क्षणों को बाँधने का प्रयत्न किया है।' ये खण्डित क्षण एक विशेष भावभूमि को ही अभिव्यक्त करते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक रिम्बो ने कविता में 'सिंगल इमेज़' को ही महत्त्वपूर्ण माना है, यदि उसमें अभिव्यक्ति की सारी अर्थवत्ता समाहित हो जाय। इस दृष्टि से खण्ड चित्रों का भी अपना महत्त्व है; खासकर गीत में तो और भी, जहाँ फैलाव की गुंजाइश नहीं होती। कवयित्री के गीतों में जो भाव-चित्र उभरे हैं, वे काफी दूर तक मन को छूते हैं।

वस्तुतः, 'चेहरा एक हजारों दर्पण' की कविताएँ भावभूमि की दृष्टि से आध्यात्मिक हैं। इसमें साध्वी कवयित्री की साधना की विभिन्न मनःस्थितियाँ व्यंजित हुई हैं : ब्रह्म और चेतना के बीच हँसी, आँसू, दर्द, मान सब कुछ सम्भव है। इस संग्रह के गीत आनन्द और चेतना के परस्पर सम्बन्धों के गीत हैं। कवयित्री की आँखों में वह परम रूप प्रतिबिम्बित है, उसके अधरों पर वही स्पन्दित है :

उन नयनों को कैसे मीचूँ
जिन नयनों में तुम प्रतिबिम्बित।
उन अधरों को कैसे रोकूँ
जिन अधरों पर तुम स्पन्दित॥ (पृ० २४)

---

१. कवयित्री : साध्वी मंजुला; प्रकाशक : आदर्श साहित्य-संघ, चूरू; प्रथम संस्करण १९६९ ई०; पृ० संख्या ११२; मूल्य तीन रुपये पचास पैसे।

महादेवी वर्मा की कविताओं में जिस आध्यात्मिक वेदना की चर्चा बार-बार हुई है, उसकी स्पष्ट अनुगूँज साध्वी मंजुला के गीतों में विद्यमान है। कवयित्री की अनुभूति उसके साधनामय जीवन की उपज है, अतः सर्वथा निजी है।

प्रस्तुत संग्रह में कुछ कविताएँ (दो-तीन से ज्यादा नहीं) ऐसी हैं, जो देश की समसामयिक समस्याओं से सीधा साक्षात्कार कराती हैं। यहाँ सामाजिक सन्दर्भों के बीच कवयित्री के जागरूक दृष्टिकोण का पता चलता है। देश के अन्तर्गत भाषा, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, प्रान्त आदि की जो संकीर्ण और घातक भावनाएँ फैल रही हैं, उनकी ओर स्पष्ट संकेत हुआ है :

देख रही मैं देशवासियों की छाती पर
भाषा का अजगर बैठा फुफकार रहा है
देख रही मैं दैत्य भयंकर मजहब के
ताण्डव नर्त्तन के सम्मुख शिव भी हार रहा है
देख रही मैं प्रान्त नाम पर भारतीय अब
भाई को भी गैर समझ दुत्कार रहा है। (पृ० ८७)

कुल मिलाकर 'चेहरा एक हजारों दर्पण' की कविताओं का स्वर आध्यात्मिक है; वैसे कवयित्री के दृष्टि-पथ से सामयिक प्रश्न भी ओझल नहीं हो सके हैं। पुस्तक की प्रस्तुति सुरुचिपूर्ण और और आकर्षक है।

०

माधवनिदान :[1] महात्मा आनन्दशंकर माधवन की चौदह सौ उनचास सूक्तियों का संग्रह है। प्रायः सूक्तियों में चिन्तन का सार व्यवत होता है; क्योंकि सूक्तियाँ साधना के उच्च धरातल पर प्रकट होती हैं। श्रीमाधवन स्वयं एक साधक हैं। जीवन और जगत् के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने सोचा है, सूक्तियों के रूप में यहाँ संकलित है।

'माधवनिदान' जैसे चिन्तन-ग्रन्थ की उपयोगिता आज इसलिए भी है कि सर्वत्र ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, निराशा, घुटन का तनावपूर्ण वातावरण पैदा हो गया है। ऐसी स्थिति में एक साधक महात्मा की वाणी मनुष्य के आन्तरिक तनावों को ढील दे सके, यही इस ग्रन्थ की व्यावहारिक उपयोगिता है।

ऐसे उपयोगी ग्रन्थ के कम मूल्य पर विक्रय और वितरण की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे सर्वसाधारण भी पढ़ सकें।

०

भाषा और भाष्य[2] : डॉ० सूर्यदेव शास्त्री के बारह भाषावैज्ञानिक निबन्धों का **संग्रह है**। निबन्धों का क्रम इस प्रकार है : निराला के काव्य में भाषिक चित्रसृष्टि, शब्द

---

१. लेखक : श्री आनन्दशंकर माधवन; प्रकाशक : अमरावती, मन्दार विद्यापीठ, भागलपुर (बिहार) प्रथम संस्करण १९७० ई०; पृ० सं० ३५७ ; मूल्य : आठ रुपये।

२. लेखक : डा० सूर्यदेव शास्त्री; प्रकाशक : बिहार ग्रन्थकुटीर, पटना-४; संस्करण प्रथम, मार्च १९७० ई०; पृष्ठ-संख्या १०८ ; मूल्य : चार रुपये पचास पैसे।

और सन्दर्भ, भाषा और धर्म, विभाषाएँ और उनका अध्ययन, हिन्दी-कहानी : भाषा-वैज्ञानिक की दराज में, द्रविड-भाषा-परिवार, भाषाओं के आविष्कार की कहानी, साहित्यिक भाषा और उसका मनोभाषिक अध्ययन, बालमुकुन्द गुप्तजी की भाषा और भाषा-विषयक प्रतिपत्तियाँ, संकेत-भाषा, भाषा की समस्या और राष्ट्रभाषा तथा कविता और भाषा पर एक नोट।

हिन्दी में भाषाविज्ञान के अध्ययन-विषयक ग्रन्थ बहुत कम हैं। डॉ० शास्त्री का 'भाषा और भाष्य' इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। यह निर्विवाद सत्य है कि भाषा मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उसी के जरिए वह सामाजिक प्राणी के रूप में अपनी भूमिका निभा पाता है। अतः, उसके विवेचन-विश्लेषण की एक सामाजिक उपयोगिता भी है। अपने विभिन्न गवेषणात्मक निबन्धों में शास्त्रीजी ने यह काम किया है। इसके द्वारा उन्होंने शैक्षिक स्तर पर अवदान के अलावा एक बहुत बड़े सामाजिक दायित्व का पालन किया है।

'साहित्यिक भाषा और उसका मनोभाषिक अध्ययन' (पृष्ठ-संख्या ८५) शीर्षक निबन्ध में भाषा का मानसशास्त्रीय विवेचन किया गया है। भाषाओं के अध्ययन में मनोभाषिकी (साइकोलिंग्विस्टिक) का प्रस्तोता सर विल्हेलम वुण्ड को माना जाता है। ब्लूमफील्ड ने उसे ही आधार बनाकर अपना विवेचन उपस्थित किया। एक तरह से वुण्ड के सिद्धान्तों की व्याख्या करके ब्लूमफील्ड ने उसे प्रचारित किया और स्वीकृति दिलाई। वस्तुतः, भाषाविज्ञान के अन्तर्गत मनोभाषिकी का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। श्रीशास्त्री का यह निबन्ध इससे सम्बद्ध है। किन्तु, इस छोटे निबन्ध में विषय-वस्तु का प्रतिपादन अच्छी तरह नहीं हो सका है। सच तो यह है कि उक्त निबन्ध से मनोभाषिक अध्ययन का कोई स्पष्ट आयाम नहीं उभर सका है।

समीक्ष्य पुस्तक का एक और निबन्ध है—भाषा और धर्म (पृष्ठ-संख्या ५४), जिसमें दोनों के परस्पर ऐतिहासिक सम्बन्धों का विवेचन है। सबसे पहले मैक्समूलर ने इसपर विस्तार से विचार किया था। पौराणिक आख्यान और धार्मिक भाव से सम्बद्ध अपने अनेक विचारपूर्ण निबन्धों में उसने ग्रीक देवताओं के नाम और विभिन्न क्लासिक्स में पाये जानेवाले उनके समानार्थी शब्दों का उल्लेख किया है। उसकी मान्यता है कि भाषाओं के साथ धर्म का सूत्र भी जुड़ा है और इसे प्रमाणित करने के लिए उसने क्लासिक्स की चर्चा की है। डॉ० सूर्यदेव शास्त्री ने मैक्समूलर के सिद्धान्त-सूत्रों को ही अपना आधार बनाकर यह निबन्ध लिखा है।

पुस्तक का पाँचवाँ निबन्ध 'हिन्दी-कहानी : भाषावैज्ञानिक की दराज में' (पृष्ठ-संख्या ६९) लेखक के नवीन दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। इसके अन्तर्गत नये कहानीकारों की भाषा का विवेचन हुआ है। स्टीफेन स्पेण्डर का यह कथन सत्य है कि 'दि स्ट्रीट स्पीक्स द इडियम, ऐण्ड द इडियम इन द माइण्ड ऑव द आर्टिस्ट इनवेण्ट्स द फार्म।' यह बात खासकर आज के कहानीकारों के बारे में अधिक लागू है। इसलिए, इनकी कहानियों में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार की शब्दावलियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन

अपेक्षित है । फणीश्वरनाथ रेणु की तो हर रचना जैसे इसके लिए भाषावैज्ञानिकों को निमन्त्रण देती है ।

विवेच्य पुस्तक का अन्तिम निबन्ध 'कविता और भाषा पर एक नोट' (पृष्ठ-संख्या १०५) अधूरा है । रिम्बो से बात उठाई गई थी, उचित तो यह होता कि वह राजकमल तक आती । तब शायद कुछ नक्शा उभर पाता । किन्तु, लेखक ने न तो लम्बी यात्रा की है और न आसपास ही गौर से निगाह दौड़ाई है । इसलिए, कविता की लम्बी जमीन छूट गई है । आगे कविता और भाषा पर विचार करते समय वे इसका खयाल करेंगे ।

कुल मिलाकर, पुस्तक के निबन्ध बड़े उपयोगी हैं । इनमें कुछ काफी परिश्रम से लिखे गये हैं, जिनमें लेखक की प्रतिभा प्रकट हुई है । प्रस्तुति उत्तम है ।

—रामवचन राय

●

मधु-संचय

भाषा का प्रश्न

अभी हमारी बहुत-सी क्षेत्रीय भाषाएँ इतनी विकसित नहीं हो सकी हैं कि वे विश्वविद्यालयों में शिक्षा के माध्यम के रूप में अँगरेजी का स्थान ग्रहण कर सकें । यह सच है कि भारत-सरकार प्रत्येक क्षेत्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालय-स्तर की 'पाठ्य-पुस्तक' को तैयार करने के लिए एक-एक करोड़ रुपयों की राशि दे रही है ।

इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि केवल पैसे से ही सभी काम नहीं हो सकते हैं । किसी भाषा को माध्यम भाषा बनाने के पहले यह जरूरी है कि हम उसके सभी पहलुओं पर विचार करें । उड़िया-भाषा का उदाहरण लिया जा सकता है । वहाँ जितनी किताबें प्रकाशित होती हैं, उनका पाँच प्रतिशत ही उड़िया-पुस्तकों की संख्या है और उड़िया-पुस्तकें पहले संस्करण में मुश्किल से एक हजार से अधिक छपती हैं और उन्हें भी समाप्त होने में कम-से-कम पाँच-छह वर्षों का समय लगता है । तब हम कैसे आशा कर सकते हैं कि सरकार द्वारा १-२ करोड़ रुपये प्रति क्षेत्रीय भाषाओं को देने के बाद ही वे इस योग्य हो जायेंगी कि अँगरेजी का स्थान ग्रहण कर सकें । फल यही होगा कि रुपये अनुवादकों तथा अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों के बीच वितरित किये जायेंगे और इसका कोई निश्चित नहीं रहेगा कि यह काम सम्पन्न ही हो जाय । रुपये खर्च करने के बावजूद पुस्तकें तैयार नहीं भी हो सकती हैं । अतः, मौजूदा स्थिति कायम रखनी होगी, अर्थात् अँगरेजी इस बहाने बनी रहेगी कि भारतीय भाषाएँ अँगरेजी का स्थान ग्रहण करने योग्य नहीं बनी हैं ।

इनके अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तकों को तैयार करने में मुद्रण-उद्योग को भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ती है । बहुत-सी ऐसी क्षेत्रीय भाषाएँ हैं, जहाँ मुद्रण में विकास नहीं हो सकता है, अर्थात् उनकी छपाई हाथ से ही होती है । उनके लिए लाइनो तथा मोनो

'की-बोर्ड' अभी नहीं तैयार हो सके हैं । यह कहा जाता है कि यदि उनका 'की-बोर्ड' तैयार भी जाय, तो भी आर्थिक दृष्टि से उन पुस्तकों को छापना ही लाभदायक हो सकता है, जिनकी १२०० से अधिक प्रतियाँ छपती हों । अतः, यदि क्षेत्रीय भाषाओं में पाण्डुलिपियाँ तैयार हों, रुपये भी सुलभ हों, तो ये निकट भविष्य में उन्हें मुद्रित करना लाभदायक नहीं हो सकता है; क्योंकि उनके मुद्रण-उद्योग की स्थिति अभी अच्छी नहीं हो सकी है । कुछ लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उड़िया-टाइपराइटर का 'की-बोर्ड' अभी सन्तोषजनक रूप में विकसित नहीं हो सका है ।

अगर हमलोग किसी विशेष भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहें, तो केवल पाठ्य-पुस्तकों पर ही विचार नहीं करना चाहिए । किसी विद्यार्थी के जीवन में पाठ्य-पुस्तकों के अलावा दूसरी पुस्तकों का भी महत्त्व रहता है, तो ऐसी किताबों का क्या होगा ? क्या भारत-सरकार उनके लिए भी सहायता देगी और यदि उनके लिए सहायता दे, भी तो क्या सभी क्षेत्रीय भाषाओं में सभी तरह की किताबों का अनुवाद कराना सम्भव है ? अगर सभी पुस्तकें सुलभ नहीं कराई जा सकती हैं, तो अखिलभारतीय परीक्षाओं में भेद का प्रश्न उठ खड़ा होगा और यह उनके मौलिक अधिकारों का हनन होगा ।

क्षेत्रीय भाषाओं के कुछ हिमायतियों का यह कहना है कि वैज्ञानिक दृष्टि से विद्यार्थियों के लिए यही सही है कि उनकी मातृभाषा में ही उन्हें ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जाय । यह तो इस मानी में कुछ आधार रखता है कि विद्यार्थी अपनी मातृभाषा अच्छी तरह बोल-लिख सकते हैं और उन्हें इसमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती है, जो अँगरेजी के साथ आज महसूस की जा रही है । इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सभी राज्यों में माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ हैं और जब वे विद्यार्थी विश्वविद्यालय में जाते है, तब वहाँ अँगरेजी-माध्यम से पढ़ना पड़ता है, फलतः उन्हें बड़ी कठिनाई होती है । । किन्तु, माध्यमिक स्तर तक यदि हिन्दी को सभी राज्यों में अनिवार्य कर दिया जाय और विश्वविद्यालयों में इसे शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय, तो उन्हें वह कठिनाई नहीं होगी, जो आज होती है । इसके अतिरिक्त, पश्चिमी तथा पूर्वी भारत में सभी क्षेत्रीय भाषाएँ हिन्दी के साथ निकट रूप में सम्बद्ध हैं । अतः, पूर्वी तथा पश्चिमी भारत के किसी विद्यार्थी को विश्वविद्यालय-स्तर में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम रखने में कोई कठिनाई नहीं होगी ।

यह सही है कि विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा में अच्छे ढंग से शिक्षा दी जा सकती है । इस सम्बन्ध में, इस बात से लोगों को सहमत होना चाहिए कि किसी क्षेत्र-विशेष के सभी विद्यार्थियों की मातृभाषा एक क्षेत्रीय भाषा नहीं हो सकती है । लगभग २५ से ३० प्रतिशत ऐसे विद्यार्थी होंगे, जिनकी मातृभाषा उस क्षेत्र की क्षेत्रीय भाषा नहीं होगी । अतः, इससे स्पष्ट है कि मातृभाषा में ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देने का जो सब्जबाग दिखाया जाता है, वह भ्रम पैदा करने और अँगरेजी को बराबर बनाये रखने की एक चालाकी-मात्र है ।

भारतीय संविधान में क्षेत्रीय भाषाओं का कोई उल्लेख नहीं है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के उल्लेख में एक उपशीर्षक-भर है। इससे यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि देवनागरी-लिपि में लिखी हिन्दी को ऊँचा स्थान दिया गया है और इसे अन्य भारतीय भाषाओं से अलग माना गया है। अतः, हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं के समक्ष रखना केवल गलत ही नहीं, वरन् संविधान के विरुद्ध भी है।

क्षेत्रीय भाषाओं के हिमायतियों की बात यदि मान ली जाय और क्षेत्रीय भाषाओं में यदि ऊँची-से-ऊँची शिक्षाएँ दी जायँ, जैसा कि कागज पर व्यावहारिक रूप में स्वीकार भी कर लिया गया है, तो संस्कृत और उर्दू जैसी भाषाओं की क्या स्थिति होगी ? ये भाषाएँ संविधान की ८वीं अनुसूची में अंकित हैं, किन्तु इनका अपना कोई भी क्षेत्र नहीं है। यदि किसी क्षेत्र-विशेष के कुछ विद्यार्थी यह दावा करें कि उनकी क्षेत्रीय भाषा संस्कृत अथवा उर्दू है, तो संवैधानिक रूप में राज्य को यह व्यवस्था करनी पड़ेगी कि उन्हें ऊँची-से-ऊँची शिक्षा उस भाषा में दी जाय। इस सुविधा से उन्हें कोई वंचित नहीं कर सकता है। ऐसा करना आपस में भेद बढ़ाना होगा, जिसकी गम्भीर प्रतिक्रिया भी हो सकती है।

दक्षिण भारत के सम्बन्ध में निश्चय ही कुछ व्यवस्था करनी चाहिए। केवल यह व्यवस्था की जा सकती है कि तेलुगु, कन्नड, मलयालम और तमिल-भाषी लोग आपस में यह तय कर लें कि इन चारों में कौन-सी एक भाषा दक्षिण भारत के विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बन सकती है ? अगर वे तमिल को चुनें, तो अन्य तीनों क्षेत्रों में उसे माध्यमिक स्तर तक अनिवार्य बनाया जाय और डिग्री कोर्स में हिन्दी को अनिवार्य रखा जाय। ऐसी व्यवस्था कोई निश्चित अवधि तक, लगभग तीस वर्षों तक रखी जा सकती है। इसके बाद भारत के अन्य क्षेत्रों के समक्ष वे स्वयं आ जायेंगी।

दुर्भाग्यवश देश के अहिन्दी भाषा-भाषी लोगों के मन में जान-बूझकर यह भाव बैठाया गया है कि यदि सरकार के सभी कामकाज की भाषा हिन्दी हो गई, तो हिन्दी का साम्राज्यवाद खड़ा हो जायगा। ऐसी धारणा मूलतः गलत है। और, हिन्दी देश की सम्पूर्णतः राजभाषा हो जाती है, तो इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्र के विद्यार्थियों को थोड़ी सुविधा मिलेगी; क्योंकि हिन्दी उनकी मातृभाषा रहेगी। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि अँगरेजी को देश में बराबर बनाये रखना चाहिए और हमारी आबादी का पाँच प्रतिशत ही ९५ प्रतिशत पर शासन करता रहे। केवल इस कारण कि वे अँगरेजी जानते हैं। अँगरेजी का भारतीय जीवन से कोई सम्पर्क नहीं है। यह भारतीय संस्कृति और शैक्षणिक जीवन से सम्बद्ध नहीं हो सकता है। अतः, हिन्दी-साम्राज्यवाद का भ्रम केवल अँगरेजी के समर्थकों ने फैलाया है।

केवल अखिलभारतीय सेवा-परीक्षाओं के सम्बन्ध में हिन्दी-साम्राज्यवाद का प्रश्न उठ सकता है; क्योंकि अहिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्र के लोगों की अपेक्षा उन्हें अवश्य कुछ अधिक सुविधा रहेगी, जिनकी मातृभाषा हिन्दी होगी। लेकिन, इसके लिए न हिन्दी को दोष दिया जा सकता है, न हिन्दी-भाषाभाषियों को। सभी अखिलभारतीय प्रतियोगिता-परीक्षाओं

के लिए डिग्री तक की योग्यत्ता न्यूनतम रखी गई है कि अगर दक्षिण भारत की कोई भाषा अनिवार्य बना दी जाती, तो इस समस्या का आसानी से समाधान हो जाता। अतः, माध्यमिक स्तर में दक्षिणभारतीय भाषा को रखना व्यर्थ है। और, यदि इसे रखा जाता है, तो विशेषतः मुफस्सिल विद्यालयों में शिक्षकों को प्राप्त करने तथा पैसे आदि की दृष्टि से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। किन्तु एक प्रश्न उठता है कि क्या प्रथम वर्ष डिग्री कोर्स में प्रवेश पानेवाले विद्यार्थी को दक्षिणभारतीय भाषा को ककहरे से प्रारम्भ करना पड़ेगा ? यह कुछ हास्यास्पद दिखाई पड़ता है और हम एक लेक्चरर से ऐसी आशा भी नहीं कर सकते हैं कि वे डिग्री कोर्स में किसी भाषा को ककहरा से ही पढ़ाना शुरू करेंगे। इस समस्या के समाधान के लिए यह राय दी जाती है कि डिग्री परीक्षा में दक्षिणभारतीय भाषा के पत्र का स्तर वही रहे, जो माध्यमिक विद्यालय के पत्र का रहता है और इस निमित्त विद्यार्थियों को विशेष छूट दी जाय और कॉलेज में इस भाषा को पढ़ानेवाले प्राध्यापक के लिए यह जरूरी नहीं है कि दूसरे प्राध्यापकों की तरह उन्हें भी स्नातकोतर डिग्री प्राप्त रहे।

यह बड़े खेद का विषय है कि आज ऐसी स्थिति आ गई है कि हिन्दी और इसके खिलाफ क्षेत्रीय भाषाओं का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, जब कि अँगरेजी के विरुद्ध भारतीय भाषाओं को खड़ा होना चाहिए था, जिनका प्रतिनिधित्व हिन्दी करती। इस वर्त्तमान विवाद से अँगरेजी को ही लाभ हो सकता है।

क्षेत्रीय भाषाओं के हिमायतियों को यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाएँ एक दूसरे की पूरक हैं और किसी भी स्थिति में इनमें विद्वेष नहीं हो सकता है। कोई भी व्यक्ति क्षेत्रीय भाषा के महत्त्व को कम करना नहीं चाहता। इसकी पृष्ठभूमि बड़ी समृद्ध है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि क्षेत्रीय भाषाओं को विकसित करने के बहाने बनाकर अँगरेजी को देश में अनिश्चित काल के लिए शक्तिशाली बनाकर रखे। हमलोगों को यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि किसी भारतीय भाषा को विश्वविद्यालय-स्तर में या सरकारी कामकाज में अँगरेजी का स्थान दिया जाय, जो संसार की एक अत्यन्त ही समृद्ध भाषा है, तो इसके लिए पर्याप्त पैसे तथा प्रतिभा एवं श्रम लगाने की आवश्यकता है। यह मानी हुई बात है। अतः, हमलोगों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि किसी एक भाषा को इतना विकसित करें कि वह अँगरेजी का स्थान ले। सोलहों भाषाओं को एक समान विकसित करना समय का अपव्यय करना होगा। बहुत-सी भाषाएँ अपनी प्राथमिक अवस्था में हैं। सबको एक साथ विकसित करते रहने से हमारा लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता है।

—सच्चिदानन्द कानूनगो

परिषद् के गौरव-ग्रन्थ

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य
साहित्य और संस्कृति		
१. श्रीरामावतार शर्मा-निबन्धावली	महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा	८·७५
२. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति	म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी	५.००
३. कथासरित्सागर (संस्कृत मूल-सह-हिन्दी-अनुवाद)	अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत (प्रथम खण्ड)	१०.००
४. ,, ,, ,, ,,	,, (द्वितीय खण्ड)	१२.५०
५. दोहाकोश (सिद्ध सरहपाद-कृत)	छायानुवाद : म० स० पं० राहुल सांकृत्यायन	१३.२५
६. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन (द्वि० सं०)	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	९.५०
७. काव्यमीमांसा (महाकवि राजशेखर) (द्वि० सं०)	अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत	९.५०
८. शिवपूजन-रचनावली (प्रथम खण्ड)	आचार्य शिवपूजन सहाय	८.७५
९. शिवपूजन-रचनावली (द्वितीय खण्ड)	,, ,, ,,	९.००
१०. शिवपूजन-रचनावली (तृतीय खण्ड)	,, ,, ,,	१०.००
११. शिवपूजन-रचनावली (चतुर्थ खण्ड)	,, ,, ,,	८.५०
१२. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन	आचार्य विनयमोहन शर्मा	११.२५
१३. रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.२५
१४. दक्खिनी-हिन्दी-काव्यधारा	महापण्डित राहुल सांकृत्यायन	६.००
१५. सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन	डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	१४.००
१६. दरिया-ग्रन्थावली (द्वितीय ग्रन्थ)	,, ,, ,,	६.५०
१७. सन्तमत का सरभंग-सम्प्रदाय	,, ,, ,,	५.५०
१८. जातक-कालीन भारतीय संस्कृति	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	६.५०
१९. हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ (द्वि० सं०)	श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्	३.००
२०. नीलपंछी (मूल फ्रेंच से अनूदित नाटक)	अनु० डॉ० कामिल बुल्के	२.५०
२१. चतुर्दश भाषा-निबन्धावली (द्वि० सं०)	(संविधान में स्वीकृत चौदह भाषाओं एवं उनके साहित्य पर प्रस्तुत निबन्ध	४.२५
२२. पंचदश लोकभाषा-निबन्धावली	(पन्द्रह लोकभाषाओं पर निबन्ध)	४.५०
२३. रंगनाथ रामायण (तेलुगु से अनूदित)	अनु० ए० सी० कामाक्षिराव	६.५०
२४. कम्बरामायण : प्रथम खण्ड (तमिल से अनूदित)	अनु० श्री न० वि० राजगोपालन	९·७५

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य
२५. कम्बरामायण (द्वितीय खण्ड)	अनु० श्री न० वि० राजगोपालन	१०.७५
२६. गोस्वामी तुलसीदास	श्रीशिवनन्दन सहाय	५.५०
२७. सदलमिश्र-ग्रन्थावली	पं० सदल मिश्र	५.००
२८. अयोध्याप्रसाद खत्री-स्मारक ग्रन्थ	सं० आचार्य शिवपूजन सहाय : आचार्य नलिनविलोचन शर्मा	५.००
२९. विद्यापति-पदावली (प्रथम भाग)	(मूल पदों का पाठालोचन तथा हिन्दी-अनुवाद)	७.५०
३०. ,, ,, (द्वितीय भाग)	,, ,, ,,	१५.००
३१. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण	(प्रथम खण्ड)	२.५०
३२. ,, ,, ,,	(द्वितीय खण्ड)	२.५०
३३. ,, ,, ,,	(तृतीय खण्ड)	१.२५
३४. ,, ,, ,,	(चतुर्थ खण्ड)	१.२५
३५ ,, ,, ,,	(पंचम खण्ड)	१.००
३६ ,, ,, ,,	(षष्ठ खण्ड)	२.००
३७. काव्यालंकार (संस्कृत से हिन्दी-भाष्य)	भाष्यकार : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	५.००
३८. भारतीय संस्कृति और साधना (प्र० सं०)	म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज	११.५०
३९. भारतीय संस्कृति और साधना (द्वि० सं०)	,, ,,	७.००
४०. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि	,, ,,	७.५०
४१. राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ और समाधान	(परिषद्-वार्षिकोत्सवों के सभापतियों के भाषणों का सग्रह)	१.५०
४२. रहस्यवाद	आचार्य परशुराम चतुर्वेदी	५.००
४३. साहित्य-सिद्धान्त	डॉ० रामअवध द्विवेदी	५.००
४४. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा	पं० बलदेव उपाध्याय	१०.५०
४५. मात्रिक छन्दों का विकास	डॉ० शिवनन्दन प्रसाद	८.५०
४६. हरिचरित (प्रथम खण्ड)	सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा	३.२५
४७. भारतीय नीति का विकास	डॉ० राजबली पाण्डेय	५.००
४८. रामजन्म	सं० डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	४.५०
४९. सद्धर्मपुण्डरीक (मिश्रित संस्कृत-भाषा से अनूदित)	अनु० डॉ० राममोहन दास	१०.५०
५०. गोदा-गीतावली (मूल तमिल से अनुवाद-सह-व्याख्या)	अनुवादक एवं व्याख्याकार : पं० वागीशाचार्य शास्त्री	१२.३०
५१. उर्दू-समालोचना पर एक दृष्टि	मूल-ले० श्रीकलीमुदीन अहमद : अनु० प्रो० रामप्रसाद लाल	७.५०
५२. परम्पराशील नाट्य	श्रीजगदीशचन्द्र माथुर, आइ० सी० एस्	५.५०
५३. पुराण-परिशीलन	म०म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी	२०.००

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य

सांस्कृतिक पुरातत्त्वेतिहास

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य
५४. गुप्तकालीन मुद्राएँ	डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर	९.५०
५५. सार्थवाह (द्वितीय संस्करण)	डॉ० मोतीचन्द्र	११.००
५६. मध्यदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	७.००
५७. भारतीय कला को बिहार की देन	डॉ० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह	७.५०
५८. प्राङ्मौर्य बिहार	डॉ० देवसहाय त्रिवेद	७.२५
५९. बौद्धधर्म और बिहार	पं० हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'	८.००
६०. पतंजलिकालीन भारत	डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री	११.५०

साहित्यिक इतिहास

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य
६१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (तृतीय संस्करण)	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	३.२५
६२. हिन्दी-साहित्य और बिहार (प्रथम खण्ड)	सं० आचार्य शिवपूजन सहाय	५.५०
६३. ,, ,, (द्वितीय खण्ड)	,, ,,	८.००
६४. साहित्य का इतिहास-दर्शन	आचार्य नलिनविलोचन शर्मा	५.००
६५. काशी की सारस्वत साधना	म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज	२.५०

विज्ञान

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य
६६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा	डॉ० सत्यप्रकाश	८.००
६७. नीहारिकाएँ	डॉ० गोरख प्रसाद	४.२५
६८. ग्रह-नक्षत्र	श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ०सी०एस्०	४.२५
६९. ईख और चीनी	श्रीफूलदेव सहाय वर्मा	१३.५०
७०. रबर	,, ,,	७.५०
७१. पेट्रोलियम	,, ,,	५.५०
७२. मुद्रण-कला	पं० छविनाथ पाण्डेय	७.२५
७३. कृषि-विनाशी कीट और उनका दमन	श्रीशैलेन्द्रकुमार 'निर्मल'	५.५०

इतिहास

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य
७४. मध्यएशिया का इतिहास (प्रथम खण्ड)	महापण्डित राहुल सांकृत्यायन	१२.२५
७५. ,, ,, (द्वितीय खण्ड)	,, ,,	८.५०
७६. चम्पारन में महात्मा गान्धी	डॉ० राजेन्द्र प्रसाद	७.७५

पुस्तक-नाम	लेखक	मूल्य
धर्म और दर्शन		
७७. यूरोपीय दर्शन	म० म० पं० रामावतार शर्मा	३.२५
७८. बौद्धधर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव	१७.००
७९. षड्दर्शन-रहस्य	पं० रंगनाथ पाठक	५.००
८०. स्फोट-दर्शन	,, ,,	१०.००
८१. भारतीय प्रतीक-विद्या	डॉ० जनार्दन मिश्र	११.००
८२. शैवमत	डॉ० यदुवंशी	८.००
८३. विश्वधर्म-दर्शन	श्रीसाँवलियाविहारीलाल वर्मा	१३.५०
भाषाविज्ञान		
८४. भोजपुरी भाषा और साहित्य	डॉ० उदयनारायण तिवारी	१३.५०
८५. प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण (मूल जर्मन से अनूदित)	अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी	२०.००
८६. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव मानभूम ऐण्ड सिंहभूम	सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद : डॉ० सुधाकर झा शास्त्री	४.५०
८७. मुहावरा-मीमांसा	डॉ० ओमप्रकाश गुप्त	६.५०
८८. बैसवाड़ी शब्द-सामर्थ्य	डॉ० देवीशंकर द्विवेदी	१५-५०
लोक-साहित्य		
८९. भोजपुरी के कवि और काव्य	श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह	५.७५
९०. बाँसरी बज रही (द्वि० सं०)	श्रीजगदीश त्रिगुणायत	१७.००
९१. लोक-साहित्य : आकर-साहित्य-सूची	सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा	०.५०
९२. लोककथा-कोश	,, ,,	०.३२
९३. लोकगाथा-परिचय	,, ,,	०.२५
९४. मगही-संस्कार-गीत	सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद	६.५०
९५. अंगिका-संस्कार-गीत	सं० पं० वैद्यनाथ पाण्डेय : श्रीराधावल्लभ शर्मा	१२.००
९६. भोजपुरी लोकोक्तियाँ	डॉ० शशिशेखर तिवारी	१०.००
कोश-ग्रन्थ		
९७. कृषि-कोश (प्रथम खण्ड)	सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद	३.००
९८ ,, (द्वितीय खण्ड)	श्रीवैद्यनाथ पाण्डेय : श्रीश्रुतिदेव शास्त्री	६.५०
९९. पुस्तकालय-विज्ञान-कोश	श्रीप्रभुनारायण गौड़	४.५०
१००. कहावत-कोश	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' : श्रीविक्रमादित्य मिश्र	१५.००

पुस्तक नाम	लेखक	मूल्य
अर्थशास्त्र		
१०१. राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त	श्रीगोरखनाथ सिंह	५.१०
राजनीति और दर्शन		
१०२. राजनीति और दर्शन	डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा	१४.००
समर-नीति		
१०३. प्राचीन भारत की सांग्रामिकता	पं० रामदीन पाण्डेय	६.५०
मनोविज्ञान		
१०४. अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन	श्रीवेंकटेश्वर शर्मा	७.५०
हस्तशिल्प-कला		
१०५. वेणु-शिल्प	शिल्पाचार्य श्रीउपेन्द्र महारथी	११.००
यात्रा-विवरण : संस्मरण		
१०६. यात्रा का आनन्द	आचार्य काकासाहेब कालेलकर	७.५०
१०७. नेपाल : देश और संस्कृति	श्रीहरिनन्दन ठाकुर, आइ० ए०एस्०	८.५०
सामान्य ज्ञान		
१०८. भारतीय अब्दकोश (सन् १९७० ई०)	सं० श्रीपरमानन्द पाण्डेय : श्रीरामकिशोर ठाकुर	१५.५०

●

परिषद्-प्रकाशन : अमूल्य सम्मतियाँ

"परिषद् ने सुन्दर साहित्यिक प्रकाशनों की व्यवस्था द्वारा हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी का साहित्य-भाण्डार ऐसे सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही समुन्नत हो सकता है।"

—राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

"परिषद् ने अपनी छोटी-सी उम्र में जैसे उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, मुझे मालूम नहीं किसी अन्य साहित्यिक संस्था ने आजतक वैसा किया है। सभी ग्रन्थ मौलिक तथा शोधपूर्ण हैं अथवा ऐसे विषयों पर हैं, जिनपर हिन्दी-भाषा में अबतक कोई पुस्तक नहीं थी।"

—श्रीजयप्रकाश नारायण

"प्रायः यह बात कही जाती है कि हिन्दी में ऊँचे साहित्य की न्यूनता है। ऐसी बातों का उत्तर हमें ऐसे ही कार्य करके देना है, जैसा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् कर रही है।"

—राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त

"परिषद् की पुस्तकों को देखकर प्रसन्नता होती है और गर्व भी होता है। परिषद् हिन्दी के भाण्डार को सर्वांगसम्पन्न बनाने का काम जिस सफलता से कर रही है, उसको देखकर यह विश्वास होता है कि शीघ्र ही हिन्दी-वाङ्मय ऐसे स्तर पर पहुँच जायगा कि किसी को उसपर आक्षेप करने का साहस न हो सकेगा।"

—डॉ० सम्पूर्णानन्द

"तपस्या से ही बड़ा काम हो सकता है, यह बात इन (परिषद्)-प्रकाशनों से और भी स्पष्ट हो गई।"

—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

"परिषद् की ग्रन्थ-निधि देखकर चित्त गद्गद् हो गया। परिषद् नई-नई विजय करती जा रही है। परिषद् की पुस्तकें नया साहित्यिक स्तर सामने लाती है।"

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

"विविध मानव-समाजोपयोगी एवं वैज्ञानिक विषयों पर विशिष्ट ग्रन्थों को प्रकाशित कर परिषद् ने उच्चतम सांस्कृतिक महत्त्व का कार्य किया है। यद्यपि परिषद् अल्पकाल से ही कार्य कर रही है, तथापि इसके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों के कारण इसे अपने देश की, सांस्कृतिक महत्त्व की, अग्रगण्य संस्थाओं में स्थान मिला है।"

—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

●

परिषद् के सद्यः प्रकाशित ग्रन्थ

१. पुराण-परिशीलन : महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी। मू० २०.००

२. बाँसरी बज रही (द्वितीय संस्करण) : श्री जगदीश त्रिगुणायत। मू० १७ ००

३. यूरोपीय दर्शन (द्वितीय संस्करण) : म० महो० पं० रामावतार शर्मा। मू० ३.२५

४. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ (द्वितीय संस्करण) :
त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०। ३.००

५. बौद्ध-धर्म-दर्शन (द्वितीय संस्करण) : आचार्य नरेन्द्रदेव। मू० २५.००

६. भोजपुरी लोकोक्तियाँ : डॉ० शशिशेखर तिवारी। मू० १०.००

७. बैसवाड़ी शब्द-सामर्थ्य : डॉ० देवीशंकर द्विवेदी। मू० १५.५०

८. परम्पराशील नाट्य : श्रीजगदीशचन्द्र माथुर, आइ० सी० एस्०। मू० ५.५०

९. उर्दू समालोचना पर एक दृष्टि : मूल-लेखक -श्रीकलीमुद्दीन अहमद,
अनु० प्रो० रामप्रसाद लाल। मू० १२.००

१०. नेपाल : देश और संस्कृति : श्रीहरिनन्दन ठाकुर आइ० ए० एस०। मू० ८ ५०

परिषद्-प्रकाशन : अमूल्य सम्मतियाँ

"परिषद् ने सुन्दर साहित्यिक प्रकाशनों की व्यवस्था द्वारा हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी का साहित्य-भाण्डार ऐसे सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही समुन्नत हो सकता है।"

—राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

"परिषद् ने अपनी छोटी-सी उम्र में जैसे उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, मुझे मालूम नहीं किसी अन्य साहित्यिक संस्था ने आजतक वैसा किया है। सभी ग्रन्थ मौलिक तथा शोधपूर्ण हैं अथवा ऐसे विषयों पर हैं, जिनपर हिन्दी-भाषा में अबतक कोई पुस्तक नहीं थी।"

—श्रीजयप्रकाश नारायण

"प्राय: यह बात कही जाती है कि हिन्दी में ऊँचे साहित्य की न्यूनता है। ऐसी बातों का उत्तर हमें ऐसे ही कार्य करके देना है, जैसा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् कर रही है।"

—राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त

"परिषद् की पुस्तकों को देखकर प्रसन्नता होती है और गर्व भी होता है। परिषद् हिन्दी के भाण्डार को सर्वाङ्गसम्पन्न बनाने का काम जिस सफलता से कर रही है, उसको देखकर यह विश्वास होता है कि शीघ्र ही हिन्दी-वाङ्मय ऐसे स्तर पर पहुँच जायगा कि किसी को उसपर आक्षेप करने का साहस न हो सकेगा।"

—डॉ० सम्पूर्णानन्द

"तपस्या से ही बड़ा काम हो सकता है, यह बात इन (परिषद्)-प्रकाशनों से और भी स्पष्ट हो गई।"

—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

"परिषद् की ग्रन्थ-निधि देखकर चित्त गद्गद हो गया। परिषद् नई-नई विजय करती जा रही है। परिषद् की पुस्तकें नया साहित्यिक स्तर सामने लाती है।"

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

"विविध मानव-समाजोपयोगी एवं वैज्ञानिक विषयों पर विशिष्ट ग्रन्थों को प्रकाशित कर परिषद् ने उच्चतम सांस्कृतिक महत्त्व का कार्य किया है। यद्यपि परिषद् अल्पकाल से ही कार्य कर रही है, तथापि इसके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों के कारण इसे अपने देश की, सांस्कृतिक महत्त्व की, अग्रगण्य संस्थाओं में स्थान मिला है।"

—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

●